अधिकार का प्रश्न

कर्त्तव्य और अधिकार के द्वन्द्व की एक मर्मस्पर्शी कथा,
जिसमें मानवता की नव-रचना की एक पावन संयोजना है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

१९७३

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लिमिटेड
रामनगर, नई दिल्ली-55

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लिमिटेड
रामनगर, नई दिल्ली-55

शाखाएँ

फव्वारा, दिल्ली।
अमीनाबाद पार्क, लखनऊ।
32, गणेशचन्द्र एवेन्यू, कलकत्ता-13।
सुल्तान बाजार, हैदराबाद।
माई हीरां गेट, जालन्धर।
102, प्रसाद चैम्बर्स, रौक्सी सिनेमा के पीछे, बम्बई-4।
35, माउन्ट रोड, मद्रास-2।
खजांची रोड, पटना-4।

मूल्य २-७५

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लि० रामनगर, नई दिल्ली-55 द्वारा प्रकाशित तथा राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिंटर्स (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-55 द्वारा मुद्रित।

अपनी बात

एक युग था, जब हम लेखन की प्रेरणा को देवदूत के संदेश के समान अलौकिक मानते थे। मानते थे कि साहित्य की सृष्टि तो अन्तरात्मा के एक आकस्मिक स्फुरण से होती है। एक क्षण ऐसा आता है, जब हम अनुभव करने लगते हैं कि मैं नहीं, कोई और है, जो मुझसे लिखवा लेता है। वह क्षण सदा नहीं, कभी-कभी आता है, जो अन्य क्षणों से सर्वथा भिन्न और पृथक् होता है। वह अपने में इतना विचित्र, नवीन और मुखर होता है कि अन्य क्षणों के साथ मेल नहीं खाता और जोड़ा भी नहीं जा सकता।

मेरा अनुभव ऐसा कुछ नहीं है। लेखन की प्रेरणा मुझे सदा तात्कालिक आवश्यकता की चेतना से मिलती रही है। जिसे हम शौक़, चसका या व्यसन कहते हैं, उसमें भी प्रमुखता उसी दृढ़ इच्छाशक्ति की रहती है, जिसके मूल में कोई मधुर आकर्षण, प्रलोभन अथवा निमन्त्रण निहित रहता है। इसलिए साहित्य-सर्जना को मैं लेखक के उस व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानता हूँ, जो मानवीय विकास के सामाजिक पक्ष को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखता है। अपनी पीड़ा के आन्तरिक मर्म और उसके विस्फूर्जन को, मानवात्मा के निखिल संवेगों और संवेदनों के साथ, वह कुछ ऐसी मर्मस्पर्शी वाणी देता है, जो एक दिन युग-चेतना का निर्घोष बन जाती है। इसीलिए मेरी मान्यता है कि मनस्वी लेखक उस संघर्ष से बच नहीं सकता, जो जीवन क बदलते हुए मूल्यों में अनिवार्य और अवश्यंभावी हो उठता है।

इस उपन्यास के लेखन में युग-चेतना का ही ध्यान विशेष रूप से रहा है। सच पूछिये, तो इसकी कथावस्तु में तीन पीढ़ियों की वेदना सिसकियों के रूप में, जीवन-संघर्ष का माध्यम बनकर प्रकट हुई हैं। अपने-अपने अधिकारों का प्रश्न

तो आया है। किन्तु फिर कालान्तर में परिवार का प्रौढ़ अथवा वृद्ध व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि अधिकार के नाम पर मेरी सन्तान अपनी सुविधाओं को ही देखती है। किन्तु उन अधिकारों का जन्म कैसे हुआ, व्यवस्था का रूप उसने कैसे ग्रहण किया, जीवन-विकास के इसी क्रम को वह भूल बैठती है। परिणाम यह होता है कि सन्तान के आगे उसके जनक और निर्माता दोषी, अपराधी किंवा मूर्ख प्रतीत होते हैं और उनके वृद्ध-वसिष्ठ, जनक, निर्माता और व्यवस्थापक समझ बैठते हैं कि मेरा ही लगाया हुआ यह पौधा मेरे अस्तित्व के प्रति उदासीन होकर कर्तव्य-पराङ्मुख बन बैठा है। मेरी धारणा है कि नये और पुराने, प्रौढ़ और तरुण के बीच का यह संघर्ष युग-युग व्यापी और चिरन्तन है। हम उलहना भले ही देते रहें, हम दूसरे पर दोषारोपण चाहे जितना करते रहें, लेकिन परस्पर का यह संघर्ष अवश्यम्भावी है। यदि ऐसा न होता तो प्राचीन काल में वृद्धावस्था के आरम्भ से ही जीवन और संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न होने का अवसर न आता; सामाजिक संयोजना में वानप्रस्थ और संन्यास जैसे आश्रमों की आवश्यकता ही न पड़ती।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार बच्चों के प्रति हमारा प्यार, माया और मोह रहना अनिवार्य है, उसी प्रकार कालान्तर में सन्तान के वैभव-संयोजन और जीवनानन्द की नाना परियोजनाओं में अपने गुरुजनों के प्रति उपेक्षा और उदासीनता भी सहज, स्वाभाविक और प्राकृतिक है।

ध्यान से देखें तो दोषी दोनों हैं। इसी स्थल पर कर्तव्य और अधिकार का संघर्ष उत्पन्न होता है। प्यार की अतिरंजना में अनुशासन के तन्तु ज्यों-ज्यों शिथिल होते हैं, ढीले पड़ते हैं, त्यों-त्यों तरुण पीढ़ी का गर्वोन्नत ललाट और मानस-लोक मिले हुए प्यार को अपना अधिकार समझने लगता है। कर्तव्य की मूक और मन्द वाणी अपनी दृढ़-कठोर संज्ञा भूल जाती है। परिणाम यह होता है कि हम जान-बूझकर अपने जीवन को दुर्वह, संकटापन्न और दयनीय बना बैठते हैं। अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान हमको तब होता है, जब अवसर हाथ से निकल जाता है। एक-न-एक दिन रोते सब हैं; चाहे पिता हो चाहे पुत्र।

आज की पीढ़ी की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह अधिकारों के

उपभोग पर ध्यान अधिक रखती है, मानवीय कर्तव्य-भावना का ध्यान अपेक्षाकृत बहुत कम।

मैंने इस उपन्यास में इसी समस्या को प्रमुख रूप से उभारने की चेष्टा की है, क्योंकि यह मानने को मेरा जी नहीं चाहता कि यह संसार सदा से ऐसा ही रहा है। मनुष्य के विकास का इतिहास इतना कृत्रिम, शिथिल और थोथा नहीं है कि लेखक-जाति ने कुछ कर न दिखाया हो। सच पूछिये तो इस उपन्यास का स्वर समाज के नवनिर्माण का स्वर है, मानवता की नव-रचना का पावन उद्घोष है। लेखक में वह दृष्टि तो होनी ही चाहिये जो समस्त जीवन-व्यापारों में लिप्त, नाना-प्रकार की कुरूपताओं, उसकी वीभत्स परिणतियों और परस्पर विरोधी असंगतियों में भी मानव-प्रकृति का जीवन्त राग, रस, गन्ध और जीवन-बोध ही नहीं; समुज्ज्वल भविष्य की पावन प्रेरणा भी खोज लेती है।

६६/६ किदवई नगर
कॉलोनी, साइट १
कानपुर-११

—भगवतीप्रसाद वाजपेयी

पात्र-परिचय

काशीबाबू : एक पोस्टमास्टर, वृद्ध विचारक और सद्गृहस्थ।

कलावती : काशीबाबू की पत्नी, पतिप्राणा, तेजस्विनी।

महावीरबाबू : एक स्टेशन-मास्टर, पुराने विचार के, काशीबाबू के समधी।

प्रेमा : महावीरबाबू की पत्नी, भाग्यवादिनी।

उपेन्द्र : काशीबाबू के यथार्थवादी पुत्र—सनकी, उग्र स्वभाव के।

सुरेन्द्र : उपेन्द्र का छोटा भाई, अध्यवसायी और सुशील।

मंजु : उपेन्द्र की अनुगामिनी, बुद्धिमती पत्नी।

देवेन्द्र : उपेन्द्र का पुत्र : अति आधुनिक विचारों का डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट।

तरुलता : देवेन्द्र की प्रथम पत्नी, भाव-प्रवण, अपना एक अलग व्यक्तित्व रखनेवाली।

रश्मिपाल : एक अवकाश प्राप्त सेशन जज की पुत्री, आधुनिक होने पर भी पूर्ण भारतीय नारी।

१

आज की दृष्टि से देखा जाय, तो बात बड़ी आश्चर्यजनक जान पड़ेगी, पर वास्तव में हुआ ऐसा ही था। काशीबाबू को बाग-विदाई के दो रुपये भेंट करते हुए बाबू महावीरप्रसाद ने उनके चरणों पर सिर रख दिया था। गाड़ी में बैठे हुए लोग यह दृश्य देखकर सबकुछ समझ गये थे। पैरों पर से समधी का सिर दोनों हाथों से उठाते हुए काशी बाबू ने कहा था—"आपने हमें बहुतकुछ दिया है। यों भी चिन्ता का कोई कारण नहीं है। मेरा विश्वास है कि उदारता से ही आदमी बड़ा बनता है।"

काशीबाबू फिर क्षणभर रुके और बोले—"अब जाओ, गाड़ी सीटी दे रही है। जाओ, सुखी रहो।"

महावीरबाबू बोले—"भैया साथ में जा ही रहा है। कृपा करके पाँचवें दिन बेटी की विदा कर दीजियेगा।"

काशीबाबू के पास उनके कई इष्ट-मित्र बैठे हुए थे, जिनमें से एक तो उनके चचेरे छोटेभाई वंशीधर ही थे। उन्होंने एक बार महावीरबाबू की ओर ध्यान से देखा, फिर काशीबाबू की ओर, कहा कुछ नहीं। उपेन्द्र अपनी नव-विवाहिता पत्नी मंजु के साथ अलग इण्टरक्लास के डब्बे में बैठा हुआ था। उसके पिता और श्वसुर में क्या बातचीत हुई, इसका उसे कुछ भी ज्ञान न हो पाया था।

गाड़ी ने जब फिर सीटी दी, तब काशीबाबू ने उत्तर दिया—"आज के पाँचवें दिन ?"

उनके इस प्रश्न में थोड़ा आश्चर्य भी मिश्रित था। फिर भी, बिना कुछ और कहे उन्होंने कह दिया—"दस तारीख को तो सोमवार पड़ेगा, जो पूर्व की यात्रा के लिए उत्तम नहीं है। इसलिए विदा मंगलवार तारीख ग्यारह को होगी।"

अब हरी झंडी दिखाता हुआ गार्ड ह्विसिल दे रहा था। महावीरबाबू की आँखों की पुतलियाँ डबडबा आई थीं। वे बोले—"मैं उसका पिता हूँ; पर आप

उसके धर्मपिता हैं। अतः आप खुद ही विचार कर ले। अधिक मैं आप से क्या कह सकता हूँ ?"

गाड़ी अब रेंगने लगी थी। महावीरबाबू उतरकर प्लेटफार्म पर आगये। अपने साले विनोदविहारी के हाथ से पान लेते हुए काशीबाबू खिड़की की ओर होकर बोले—"आप निश्चिन्त रहिये। आपकी लड़की को कभी कोई कष्ट न होने पायेगा।" फिर उन्होंने मन-ही-मन छाती ठोंकते हुए कह लिया—"यह मेरा दायित्व है और मैं इसे पूरी तरह निबाहूँगा। लड़की जब घर पहुँचेगी, तब मेरे इस कथन की सचाई अपने-आप प्रकट हो जायगी।"

काशीबाबू के मन में आया कि उस कथन में इतना और जोड़ा जा सकता है : 'बड़े बोल बोलना मुझे नहीं आता, फिर भी इतना तो मैं कह ही सकता हूँ कि आपकी लड़की मेरे घर में आपके यहाँ से अधिक सुखी रहेगी।' लेकिन उपेन्द्र के स्वभाव की ओर लक्ष्य कर ऐसा कुछ कहना उन्होंने उचित नहीं समझा।

गाड़ी अभी दो फर्लांग भी नहीं बढ़ पाई थी कि यही बात एक कान से दूसरे कान और दूसरे से बढ़ते-बढ़ते क्रमशः बीसवें कान में पहुँचती-पहुँचती उपेन्द्र के कान में भी जा पहुँची; क्योंकि उसके कालेज के ही एक साथी श्यामविहारी ने उससे कह दिया—"अरे उपेन्द्र, तुम्हारा समाज वास्तव में बड़ा ही रूढ़िवादी और पिछड़ा हुआ है। हमने अभी सुना कि तुम्हारी बीवी की विदा चार दिन बाद ही हो जायगी! उस पर तुर्रा यह है कि उसको लिवा लाने के लिए छोटा-भाई अभी से साथ चल रहा है! पर चार दिन में तो सच पूछो पति-पत्नी का पारस्परिक परिचय भी नहीं हो पाता।"

मन-ही-मन कुछ निश्चय-सा करता हुआ उपेन्द्र बोला—"ऊँह, सुनते जाओ। किसी के कहने से क्या होता है!"

श्यामविहारी धीरे-से बोला—"मैंने तो इसलिए बतला दिया कि बाद में सुनकर तुम पर कोई प्रतिक्रिया न हो।"

उपेन्द्र सुनकर विचारमग्न हो गया। इस विषय में कुछ कहना उसने उचित नहीं समझा।

: ३ :

गाड़ी अपनी गति से चली जा रही थी। मंजु ने देखा, उसके स्वामी से जो बात कही गई है, उसको सुनकर वे गम्भीर हो उठे हैं।

निकट ही उसका देवर सुरेन्द्र बैठा हुआ था। सुराही से एक गिलास पानी लेकर मंजु की ओर बढ़ाते हुए उसने कहा—"भाभी, पानी तो न पीजियेगा ?"

मंजु अपने देवर की ओर आँख उठाकर देखती हुई होंठों-ही-होंठों में थोड़ी मुस्कराई और बोली—"पानी ? हाँ पानी तो...।"

मंजु पानी का गिलास हाथ में लेने जा ही रही थी, तब तक सुरेन्द्र ने कह दिया—"मगर ठहरिये जरा...।" मिठाइयों की डलिया में से लौकी का लच्छा एक तश्तरी में रखकर उसने भाभी के सामने कर दिया और कहा—"ज़रा-सा खा लीजिये, तब पानी पीना ठीक होगा।"

मंजु मन-ही-मन कहने लगी—'सुरेन्द्र बड़ा सुशील जान पड़ता है।'

लौकी का लच्छा उसने मुँह में रख लिया। फिर थोड़ा ठहरकर वह पानी पीने लगी।

उपेन्द्र उस समय सोच रहा था कि इस विषय पर बाबू से मुझे खुलकर बात करनी पड़ेगी।

जो संकल्प चरितार्थ नहीं होते, वे सभी मिलकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व को खोखला कर डालते हैं। फल यह होता है कि सारा आत्मबल ही नष्ट हो जाता है।

उपेन्द्र सोचता था—'किन्तु हरएक संकल्प के पीछे अटूट धैर्य की आवश्यकता होती है। हमारे बहुतेरे संकल्प अंत में इसलिए पूरे नहीं होते कि हम अवसर आने से पूर्व ही उनकी घोषणा कर बैठते हैं। यह नहीं देखते कि संकल्पों की रक्षा के लिए सम्भव गोपनीयता की आवश्यकता होती है।'

भाभी को पानी पिलाकर सुरेन्द्र फिर उसके भाई मनोहर की ओर बढ़ गया था और वस्तुस्थिति की प्रत्येक पर्त को ध्यान से देखता हुआ उपेन्द्र सोच रहा था—'यदि आज ही इस मनोहर से कह दिया जाय कि आप जिस निमित्त हम लोगों के साथ चल रहे हैं, उसकी कोई आशा नहीं है। चार दिन के बाद मंजु नहीं जायगी। देखता हूँ, कौन भेजता है उसको आपके साथ ?' पर फिर उसे

ध्यान हो आया—'हरएक विचार-बिन्दु उत्पत्ति के क्षण ही ढुलकाने योग्य नहीं होता।'

इसी क्षण गाड़ी उन्नाव स्टेशन पर आ गई। उपेन्द्र अवसर देखकर उन लोगों के पास जा बैठा, जहाँ उसके पिता काशीप्रसाद के मित्र बैठे थे। कभी-कभी वह सोचता था कि यहाँ अगर इसी बात को लेकर एक विवाद खड़ा कर दिया जाय तो कितना आनन्द आये! अच्छा, हमारे साथियों में ही कोई व्यक्ति यहाँ आकर यह प्रश्न कर बैठे कि नव-विवाहिता वधू की विदा इतनी जल्दी कर देना कहाँ तक युक्तिसंगत है, तो कैसा हो?

किन्तु फिर तुरन्त उसे किसी के कथन का ध्यान हो आया—'लोग निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मी आये या नष्ट हो जाय, मृत्यु निश्चित समय पर न आकर बहुत पहले—बल्कि तुरन्त आ जाय, परन्तु धीर पुरुषों का पग सदा न्याय-मार्ग पर ही पड़ता है।'

इस प्रकार भाँति-भाँति के संकल्प-विकल्प के बीच उपेन्द्र विचारमग्न बैठा रहा।

इतने में सुरेन्द्र और मनोहर प्रत्येक बराती के पास पान, इलायची, सौंफ़, गरी की कतरी आदि सामग्री वाली तश्तरी देते-देते जब उपेन्द्र के पास पहुँचे, तो उसने सिर उठाकर मनोहर की ओर देखा, किंचित् मुस्कराहट भी उसके मुख पर झलक उठी। तब उसने कह दिया—"ओः मनोहर तुम, आओ बैठो।" पर इसी समय सुरेन्द्र ने आवाज दी—"मनोहर, मामाजी से सिगरेट का पैकेट ले आकर आपको सिगरेट दो।"

अब गाड़ी कानपुर प्लेटफार्म पर आ लगी थी।

उपेन्द्र मंजु के साथ ताँगे पर बैठा हुआ अपने घर की ओर आ तो रहा था, किन्तु उसका मन उलझन में पड़ गया था। ये सारे अधिकार जो, वास्तव में हमारे हैं, आज तक अग्रजों और पूर्वजों के हाथ में क्यों बने हैं? इसीलिए न कि हम इनकी परिणति को चुपचाप सहन कर लिया करते हैं, कभी इनका विरोध नहीं करते। जो उचित है उसकी स्थापना के लिए हम विग्रह नहीं करते; क्योंकि हम संघर्ष से डरते हैं।

पर हम तो भाई इमरसन के इस कथन के पक्षपाती हैं कि ज्ञानियों अथवा विज्ञजनों का अज्ञानियों और अन्धकार में डूबे हुए बुद्धिहीन-जनों पर जो एक स्वाभाविक अधिकार होता है, वह है—उन्हें सिखाने, सन्मार्ग पर ले जाने का।

यहाँ यह प्रश्न नहीं उठता कि हमारा यह रूढ़िवादी समाज हमसे अवस्था में कितना बड़ा है; क्योंकि जहाँ तक विद्या और ज्ञान का प्रश्न है, अवस्थाजन्य पद-मर्यादा और अनुशासन का आतंक ही नहीं, अस्तित्व भी मैं स्वीकार नहीं करता। और उसने जब अपने मकान के बदले पड़ोसवाले मकान के द्वार पर पग रक्खा, तब भी वह मन-ही-मन यही सोच रहा था कि युग-चेतना का ध्यान तो हमको रखना ही पड़ेगा।

थोड़ी देर बाद कलावती उपेन्द्र के सामने आ पहुँची। उपेन्द्र ने तत्काल माँ की पदरज अपने मस्तक पर लगा ली। कलावती ने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए कहा—"बेटा, आज और कल के दिन तो तुमको यहीं रहना पड़ेगा; क्योंकि कल शाम को ही गृह-प्रवेश का मुहूर्त बनता है।"

दूसरे दिन सायंकाल गृह-प्रवेश के क्षण से लेकर पाँचवें दिन प्रातःकाल तक अवसरों के अनुरूप भाँति-भाँति के कृत्य विधिवत् चलते रहे। उपेन्द्र औपचारिक रूप से प्रस्तुत अवसरों के अनुकूल अपना कर्तव्य-निर्वाह करता गया। साथी लोगों के साथ बैठकर वार्ता-विनोद में भी उसने अपने-आपको संयत और गम्भीर बनाये रक्खा। कभी यह नहीं कहा कि मेरा विचार ऐसा नहीं है। कभी यह भी नहीं कहा कि यह मेरे अधिकार का प्रश्न है। आप लोग इसमें हस्तक्षेप न करें। स्नान, भोजन, विश्राम और शयन के मांगलिक संयोगों पर भी एक ध्यानावस्थित कर्मयोगी की भाँति वह अग्रसर बना रहा। कभी हँसने का अवसर आया तो किंचित् मुस्कराहट-भर उसके आनन पर झलक उठी। मंजु से उसका परिचय हुआ। उत्साह और उल्लास के साथ उसने पारस्परिक सम्पर्क को घनिष्ठतम बनाने की चेष्टा में भी किंचित् व्यामोह का परिचय नहीं दिया। उत्तरंग मानस की प्रत्येक हिलोर के साथ-साथ निखिल व्यावर्त्त का संयोजन-नियोजन उसने विधिवत ही किया। यहाँ तक कि मंजु को यह समझने का अवसर उसने नहीं दिया कि नियोजित विवाह की इस परम्परा के साथ मेरा कहीं कोई विरोध भी है। मंजु की विदाई के कार्यक्रम का

परिपूर्ण ज्ञान रखने पर भी वह आधा घंटा पूर्व अपने मित्र श्यामविहारी के घर चला गया।

मंजु की मनःस्थिति कुछ गम्भीर थी। न केवल घर पर, वरन् गाँव के स्टेशन के इस प्लेटफार्म पर भी और डब्बे में बैठ जाने के बाद भी यत्र-तत्र उसकी आँखें किसी का मुख, उसकी भावभंगिमा, उसके नयनपलक, केशकलाप, धूप के चश्मे आदि को ध्यान से देखती रहीं। गाड़ी छूटने के पाँच मिनट पूर्व उपेन्द्र श्यामविहारी के साथ प्लेटफार्म पर टहलता हुआ दिखाई पड़ा।

मंजु सोचती थी—'क्या वे इस डब्बे में नहीं आयेंगे ? क्या क्षणभर के लिए भी वे इस डब्बे की खिड़की के सामने खड़े न होंगे ?' किन्तु जब गाड़ी ने सीटी दी, तो उसने देखा कि वे खिड़की के नीचे बिलकुल उसके सामने आ खड़े हुए हैं! उसके मन में आया, 'क्या इस अवसर पर उसे इनसे कुछ कहना चाहिये ?' लेकिन छोटा भाई मनोहर पास ही बैठा था। फलतः वह संकुचित हो उठी।—ऐसा नहीं करते। धैर्य्य तो रखना ही पड़ता है।

तब उसने मन-ही-मन स्वामी को प्रणाम किया।

गाड़ी सीटी दे रही थी। एक बार फिर उसके मन में आया, 'क्या इस अवसर पर वह इतना भी नहीं कह सकती कि मैं तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा करूँगी ?'

अब गाड़ी रेंगने लगी थी। उपेन्द्र ने एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना कह दिया—"मंजु, यह लो।"

मजु ने प्रसन्नता से हाथ बढ़ाकर पैकेट ले लिया और धीरे-से कहा—"मेरी एक प्रार्थना है कि पत्र ज़रूर लिखियेगा। मैं प्रतीक्षा में रहूँगी।"

फिर कथन के साथ मंजु ने हाथ जोड़ लिये। उसने सोचा—'इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है ?'

अब गाड़ी गति पर आ चुकी थी।

प्लेटफार्म पर खड़ा हुआ उपेन्द्र रूमाल हिला रहा था। उसके मन में अनेक ऐसी बातें आ-जा रही थीं, जो कही नहीं जातीं, और कभी-कभी तो कहने की होती भी नहीं। पर अन्त में जो बात वह सोच रहा था, वस्तुतः वह थी : 'विघ्न की आयु इस दृष्टि से बहुत छोटी होती है कि उसका फलाफल बहुत शीघ्र

ज्ञात हो जाता है, पर वह फल भोगना जीवनभर पड़ता है, इस दृष्टि से देखा जाय तो कोई भी विघ्न अन्त में जीवन के मोड़ का एक स्थायी अध्याय बन जाता है ।

रात के दस बज रहे थे । अभी कुछ मेहमान बने हुए थे । छत पर अलग-अलग चारपाइयाँ पड़ी हुई थीं । कुछ लोग भोजन के अनन्तर लेटे-लेटे रेडियो-संगीत सुन रहे थे और कुछ अपनी तोंद पर हाथ फेर रहे थे। कोई सुरेन्द्र से ठंडा पानी लाने का आग्रह कर रहा था और कोई सिगरेट के कश-पर-कश उड़ा रहा था ।

कलावती ने आकर कहा—"सुनते हो ?"

काशीबाबू बोले—"क्या है ?"

कलावती बोली—"उपेन्द्र ने खाना नहीं खाया ।"

"खाना नहीं खाया ! क्यों ?"

"उसका कहना है कि मुझे भूख नहीं है ।"

आश्चर्य के साथ काशीबाबू ने पूछा—"क्यों, भूख नहीं है ?" उनकी भौंहों में गाँठ पड़ी हुई थी और वे मन-ही-मन कह रहे थे—'अजीब हाल है इन छोकरों का ।'

कलावती बोली—"उसी से पूछो ।"

"तुमने नहीं पूछा ?"

"पूछा तो था पर वह कुछ बतलाता ही नहीं है ।"

काशीबाबू के मुँह से निकल गया 'हूँ' । फिर उन्होंने पूछा—"वह है कहाँ ?"

कलावती बोली—"छत पर ।"

"भेजो उसको ।"

थोड़ी देर बाद जब उपेन्द्र पिता के निकट आया तो उन्होंने पूछा—"क्या बात है, खाना क्यों नहीं खाया तुमने ?"

उपेन्द्र यों तो भरा बैठा था, पर पिता का प्रश्न सुनकर उसने साहसपूर्वक उत्तर दिया—"योंही ।"

"आखिर तुम्हारा मतलब क्या है ? कुछ खा चुके हो कहीं, इस कारण भूख

नहीं है या कोई और बात है जो छिपा रहे हो मुझसे ? तबियत तो ठीक है ? आज सुबह से ही मैं तुमको अनमना-सा देख रहा हूँ।" फिर पलँग के एक ओर खिसककर हाथ के संकेत के साथ बोले—"बैठो।"

"तबियत तो पिताजी ठीक ही है," खड़े-ही-खड़े उपेन्द्र बोला—"लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि हम नाव में बैठे हैं और नाविक किनारे पर खड़ा होकर उस पार जाने का आदेश दे रहा है। या ऐसा कुछ है कि हमें नाविक तो आपने बना दिया, लेकिन पतवार मुझे नहीं दी गई।"

"पहेली मत बुझाओ बेटा, स्पष्ट कहो जो तुम्हें कहना है।"

"इसके पहले कि मैं अपने मन की खरोंच आपके सामने उपस्थित करूँ, आपसे क्षमा माँगता हूँ। सो भी केवल इसलिए कि सत्य बड़ा कटु होता है। आपको मालूम है कि मैं अभी विवाह के पक्ष में नहीं था। मेरी आकांक्षा थी कि अपनी शिक्षा पूरी कर लूँ। उसके बाद गृहस्थ बनूँ। लेकिन आपने इस सम्बन्ध में मुझसे पूछने की भी आवश्यकता नहीं समझी! मेरे मन में कई बार यह बात आई कि विवाह तो मेरा हो रहा है, इसलिए इस सम्बन्ध में स्वीकृति मेरी होनी चाहिये। लेकिन संकोचवश मैंने आपसे कुछ नहीं कहा।"

"अरे तो क्या हुआ! व्याह हो जाने के बाद गृहस्थ-जीवन की कोई जिम्मेदारी तो मैंने तुम्हारे ऊपर डाली नहीं।"

"बस पिताजी। यहीं मैं आपसे मतभेद रखता हूँ। माना कि ऐसी जिम्मेदारी आपने मेरे ऊपर नहीं डाली, लेकिन उसके दायित्व से मैं बच तो सकता नहीं। पति हो जाने के बाद पत्नी के प्रति क्या मेरा कोई कर्तव्य नहीं होता ? आपको पता होना चाहिये कि मैं अपने एक मित्र से जब पचास रुपये उधार ले आया, तब मेरी कर्तव्यात्मक भावना की आंशिक पूर्ति हुई। मैं जानना चाहता हूँ कि आपने मेरे कर्तव्य के सम्बन्ध में कुछ क्यों नहीं सोचा।"

उपेन्द्र का इतना कहना था कि काशी बाबू हतप्रभ हो उठे। जो प्रश्न एक समस्या के रूप में उपेन्द्र ने उनके सामने रक्खा था, उसकी उन्होंने कल्पना तक नहीं की थी। लेकिन वे मानते थे कि अधिकारी हो जाने पर उसके अधिकार की वस्तु उसे तुरन्त दे देने की दृढ़ इच्छा को हम टाल नहीं सकते। रह गई परिस्थिति,

सो वह तो भीरु पुरुष का एक अस्त्र होती है।

क्षणभर बाद उन्होंने स्वीकार किया—"कहते तो तुम ठीक हो बेटा, लेकिन हमारे ज़माने में प्रस्तुत प्रश्न का यह रूप कभी सम्मुख नहीं आया था।"

उपेन्द्र का उत्तर था—"पिताजी, आप यह क्यों सोचते हैं कि हम भी उसी युग की संतान हैं, जिस युग की मान्यताओं का प्रतिनिधित्व आप कर रहे हैं। आप यह क्यों भूल जाते हैं कि हमारा आज का जीवन बीस-पचीस वर्ष पूर्व की उन मान्यताओं का नहीं है, जिनको हम एक शब्द में विगत कहते हैं। आज तो मनुष्य कर्तव्य की बात सोचने से पहले अधिकार की बात सोचता है।"

'कर्तव्य की बात सोचने से पहले अधिकार की बात !' काशीबाबू को ऐसा मालूम हुआ कि यह वह तीखा इंजेक्शन है जिसे बेरिन कहते हैं। घायल पक्षी की भाँति पंख फड़फड़ाते हुए बोले—"मैंने ऐसा कुछ नहीं सोचा था बेटा !"

एक निःश्वास के बाद काशीबाबू ने कह दिया—"अच्छा यह पचास रुपये मैं तुमको अभी दिये देता हूँ। यह लो।"

कथन के साथ दस-दस के पाँच नोट उपेन्द्र को देते हुए काशीबाबू बोले—"और कुछ ?"

ऋण से मुक्ति पाने का उल्लास उपेन्द्र को अवश्य हुआ था, किन्तु उसने सोचा कि गया हुआ अवसर मुँह फेरकर किसी की ओर नहीं देखता। उसका पग एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा उत्तरोत्तर द्रुतगामी होता जाता है। अवसर जब भाग जाता है तब दौड़ लगाने पर भी पकड़ना तो दूर रहा, हम उसे छू तक नहीं पाते।

अतएव उपेन्द्र ने थोड़ा और आगे बढ़कर कहा— हो सकता है मैं ही ग़लती पर होऊँ, लेकिन फिर प्रश्न उठता है कि इस प्रकार की ग़लतियों और अवश-विवश भावनाओं का उद्भव किस प्रकार की मान्यताओं का परिणाम है ? आपने अपनी बहू की विदा कर दी। मैं जानना चाहता हू, विवाह मेरा हुआ कि आपका? विदा के सम्बन्ध में क्या एक बार भी आप मुझसे पूछ नहीं सकते थे ? मनोहर को आप अपने पास बुलाकर कह नहीं सकते थे कि अभी रुख़सत नहीं होगी। हो सकता है कि इस अवसर पर आप सोचते हों कि मैं सामाजिकता की

घिसी पिटी मान्यताओं और रूढ़िवादी परम्पराओं को तोड़ने की अशिष्टता का अपराधी हूँ, लेकिन फिर मुझे यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य के प्रत्येक अधिकार का उद्भव—उद्भव ही नहीं, विकास भी; परम्पराओं को तोड़े बिना कभी सम्भव नहीं होता।"

उपेन्द्र का इतना कहना था कि काशीबाबू स्तब्ध हो उठे। क्रोध, क्षोभ, उपालम्भ और अशिष्टता की तीव्र भावनाओं से उनका मुख विवर्ण हो उठा। भीतर-ही-भीतर वे एकदम से तिलमिला उठे। एक बार तो उनके मन में आया कि वे भर्त्सना के स्वर में कह दें—'बको मत उपेन्द्र, जिसको तुम युग-चेतना कहते हो, उसको मैं उच्छृ खलता और आवारापन समझता हूँ! चले जाओ यहाँ से! आज से तुम्हारे साथ पिता-पुत्र का नाता टूटता है। अपनी यह मनहूस शक्ल कभी मत दिखलाना मुझको।'

किन्तु भगवान् शंकर की भाँति काशीबाबू ने बिना किसी हिचक के यह विष-पान कर लिया। थोड़ी देर तक तो वे मौन, स्तब्ध, अवाक् बैठे रहे; किन्तु फिर तत्काल एक निःश्वास के साथ यह कहकर चले गये—"अच्छा बेटा, ऐसा कुछ शायद मैं सोच भी नहीं सकता था। अच्छा हुआ कि तुमने मेरी आँखें खोल दीं। खैर, कोई बात नहीं, भविष्य में मैं तुम्हारी इन भावनाओं की भी रक्षा करूँगा। जाओ, खाना खा आओ।"

जब वे जीने से उतर रहे थे, तब और भी कई लोग उनके पीछे हो गये।

क्षण-भर बाद जब उपेन्द्र खाना खा रहा था तब कलावती पास बैठी हुई कह रही थी—"आज तुमको यह हो क्या गया था बेटा! पिता से कहीं इस तरह की बातें की जाती हैं, राम-राम!"

उपेन्द्र के मन में भी अन्तर्विरोध का द्वन्द्व कम नहीं था। हाथ से उठा हुआ कौर एकाएक छूटकर थाली में गिर पड़ा। गिलास-भर पानी पीने के बाद उठते-उठते वह बोला—"मुझे समझने की कोशिश करो अम्मा! मैं भी आखिर आदमी हूँ, आज का आदमी।"

कलावती बोली—"तुमने यह नहीं सोचा बेटा कि तुम्हारी इन बातों को सुनकर उनके हृदय को कितना आघात पहुँचा होगा! कभी सोचा होता, किसने

दुःख सहकर कितनी कठिनाइयों के साथ उन्होंने तुम्हारे आज के इस रूप का निर्माण किया है ! आज तुमको कुछ नहीं मालूम पड़ रहा है, लेकिन एक दिन आयेगा जब तुम अपनी इन्हीं बातों के लिए पछताओगे ।"

माँ की इस बात को सुनकर उपेन्द्र को ऐसा लगा कि बात कुछ अतिरंजित हो गई है । इसलिए उसने धीरे-से उत्तर दिया—"अम्मा, तुम मुझे समझ नहीं पा रही हो । पिताजी का जी दुःखाना तो मेरा उद्देश्य कभी हो नहीं सकता । बात केवल अधिकार की है । आज हम स्वतंत्रता की जो लड़ाई लड़ रहे हैं, उसके मूल में भी तो प्रश्न अधिकार का ही है । और आज ही क्यों, सन् १९१४ में लोकमान्य तिलक ने कहा था कि 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है ।' इस प्रकार जब कभी अधिकार का प्रश्न उठेगा, खरी बात कहनी ही पड़ेगी ।"

पुत्र की बात सुनकर कलावती फिर बोली—"हमारी भी कभी शादी हुई थी बेटे, मगर हम लोग अपनी निजी भावनाओं को अधिकार का रूप कभी नहीं देते थे ।"

उपेन्द्र का उत्तर था—"अम्मा, सामाजिक जीवन-मूल्यों में परिवर्तन सदा होता रहा है और होता रहेगा । फिर मेरी समझ में नहीं आता कि इसमें बुराई क्या है ? अगर तुम समझती हो कि मेरे कहने में ही बुराई है तो मैं न कहूं । लेकिन अम्मा, यह बात मुझे पसन्द नहीं कि मन में रक्खूँ और समय आने पर पचा जाऊँ । मेरा तो यह विश्वास धीरे-धीरे बिल्कुल पक्का हो गया है कि इच्छाओं को दबा-दबाकर रखना कभी गुणकारी नहीं होता, क्योंकि उससे सारा आत्मबल नष्ट हो जाता है ।"

कलावती सोचने लगी : 'जान पड़ता है यह अपनी पढ़ाई की बातों से इतना प्रभावित हो गया है कि उनको जीवन में चरितार्थ किये बिना इसका मन मान नहीं रहा है ।'

तब उसने कहा—"इस तरह न तो मैं तुझे समझा सकूंगी और न तू मुझे समझा सकेगा । अब तो यह बात तब तेरी समझ में आयेगी जब तू हमारी उमर का होगा और तेरा ही लड़का तुझी से इसी तरह झगड़ेगा । झगड़ेगा ही नहीं, हो सकता है एक दिन तेरा अपमान कर बैठे । तब क्या होगा, कोई नहीं

जानता। मैं भी नहीं जानती। लेकिन इतना मैं अवश्य जानती हूँ कि वह दिन आयेगा, अवश्य आयेगा।"

उपेन्द्र चौके के बाहर टंकी में लगे हुए नल से हाथ धोता हुआ सोच रहा था: प्रगति के लिए संघर्ष करना ही पड़ता है। और संघर्ष में विचारों के साथ-साथ हमारे पारस्परिक आत्मीय सम्बन्धों में थोड़ा-बहुत तनाव भी आ जाता है। इस स्थल पर विचारणीय बात केवल इतनी ही है कि हम अपने उद्देश्य को सिद्ध करने में कहीं सामाजिक विघटन के अपराधी न बन जायें। जब अम्मा को यह बात बुरी लगी, तब पिताजी को भी अवश्य बुरी लगी होगी।'

आचमन करने के बाद तौलिये से हाथ पोंछता और फिर ताक में रक्खी तश्तरी में धरे पान को उठाकर उसे मुँह में लेता हुआ उपेन्द्र सोचने लगा—'अब मुझे अपने इस अधिकार-प्रदर्शन पर क्या पिताजी के पास जाकर खेद प्रकट करना चाहिये?

'मगर यह भी तो मेरी एक दुर्बलता ही मानी जायगी। अस्तित्व की रक्षा ही नहीं, उसके उद्भव के लिए भी दृढ़ता की आवश्यकता होती है। आगे बढ़ जाने पर मुँह फेर-फेरकर पीछे देखना कभी गौरव की बात नहीं होती।'

उपेन्द्र के जो पग इस चिन्तन में धीरे-धीरे उठ रहे थे, वे छत पर आने पर पुनः साधारण स्तर पर आ गये और उसे ध्यान आगया कि गाड़ी जब चलने लगी थी तब मंजु ने कहा था—"मेरी एक प्रार्थना है...।"

तब उत्साह के साथ वह अपने कमरे में चला गया।

२

मंजु जब अपने घर में पहुँची, तो एक घण्टे-भर में ही इतनी नई बातें हो गईं कि उसने अनुभव किया, मैं एक तरह से नहीं, कई प्रकार से बदल गई हूँ। सबसे

पहले वह माँ के कण्ठ से लगकर एक प्रथा-पालन के रूप में थोड़ी देर रोई जरूर, लेकिन उतनी देर नहीं, जितनी देर वह इस घर से विदा लेते समय रोई थी। उसके पैर धोये गये। यही बात उसे आश्चर्यजनक लगी। फिर सखियों ने उसे घेर लिया। प्रत्येक ने अनेक ढंगों से ससुराल की सारी दिनचर्या जानने की चेष्टा की। विशेष रूप से यह जानने की कि जीवन का यह नवीन रूप उसे लगा कैसा ?

मंजु यों भी बहुत प्रसन्न थी। लेकिन जब उसने बतलाया कि कुल मिलाकर मुझे कोई शिकायत करने का अवसर नहीं मिला, तब कई सखियों ने उसे बहुत बधाइयाँ दीं और एक सखी, जो अवस्था में उससे बड़ी थी तथा जिसका नाम था तारा, उसने आशीर्वाद भी दिया। सारी बात खोद-खोदकर पूछ लेने के उपरान्त सबने एक मत से यही कहा कि सबसे बड़ी बात है स्वामी का इतना अनुकूल होना। तब मंजु को भी यह सोचने का अवसर मिला कि सचमुच जैसी मैं कल्पना करती थी, वे एकदम वैसे ही मेरे सहचर और जीवन-संगी हैं। फिर प्रेम सम्बन्धी उपादानों और नियोजनों की याद कर-करके यह समझने में भी प्रकारान्तर से उसे सुख ही मिला कि उन्होंने मेरा मान रखने के लिए प्राचीन परम्पराओं और प्रचलनों का उतना परिपालन नहीं किया, जितना उन्हें करना चाहिये था। उसकी बड़ी ननद पूर्णिमा ने विनोदात्मक ढंग से थोड़ा-थोड़ा मुस्कराते हुए रात में बारह बजे तक बातें करते हुए जब कह दिया—'भाभी, जान पड़ता है कि तुम ऊँघ रही हो। अच्छा अब तुम सोओ, मैं जाती हूँ।' तब उसको कुछ अच्छा ही लगा था। उसकी माँ ने दिनचर्या के विषय में कुछ पूछा न था। केवल इतना पूछा था कि मनोहर के साथ चले जाने और पाँच दिन बाद ही तेरी विदा करा लेने के सम्बन्ध में किसी ने कुछ आपत्ति तो नहीं की थी ? तब भी मंजु के मन में यही आया था कि अब मैं वह नहीं हूँ, जो पहले थी।

इन सब बातों ने उसके मन में कई प्रश्न खड़े कर दिये थे। वह सोचने लगी थी कि स्वच्छ हवादार मकान मिलना, खाने-पीने का स्तर ऊँचा होना, पारिवारिक व्यक्तियों का प्यार से बोलना, भूख-प्यास और नींद का ध्यान रखना और जीविका का कोई ऐसा साधन होना, जिसमें सामाजिक प्रतिष्ठा को कोई हानि न पहुँचे आदि सारी बातें एक ओर हैं और स्वामी की अनुकूलता दूसरी ओर।

उसे बार-बार ध्यान आने लगा, मेरे चले आने के बाद न जाने उन पर क्या प्रतिक्रिया हुई हो ! वह सोचती थी कि अपनी अप्रसन्नता छिपा सकना उनके लिए सम्भव नहीं; क्योंकि विगत पाँच दिनों के अन्दर वह इतना तो जान ही गई थी कि मन के आन्तरिक संकल्प-विकल्प ही नहीं, अनिच्छा से स्वीकार की हुई कोई भी बात वे कभी सहन नहीं करते और विरोध करते समय उन्हें इस बात का भी ध्यान नहीं रहता कि मेरी कुछ सीमाएँ भी हैं या नहीं।

इसका मुख्य कारण यह था कि विकासवाद की सारी प्रवृत्तियों को मान्यता देती हुई वह मानती यही थी कि सीमाएँ तो रखनी ही पड़ेंगी; क्योंकि एक सीमा ही तो संयम स्थिर रखती है। वह संयम, जिससे हमारी दृष्टि दिव्य बनी रहती है और हरएक पग दृढ़ता के साथ आगे पड़ता है।

कभी-कभी वह सास-ससुर के सीधे, सच्चे, गम्भीर किन्तु हँसमुख व्यक्तित्वों को अपने लिए सौभाग्य की बात मानती थी; किन्तु इस बात का उसे सदा ध्यान बना रहता था कि बाबू बड़े गम्भीर हैं और अम्मा समझती सब हैं, किन्तु वे बच्चों का रुख और मुख देखकर चलती हैं। असन्तुष्ट तो उनसे कोई हो ही नहीं सकता। उसे ससुराल के घर का वातावरण याद आता था। वह सोचती थी कि सवेरे से लगाकर रात के नौ-दस बजे तक खान-पान और चाय-जलपान के साथ जो संगति रहती थी, उसकी सामूहिक और अपनी-अपनी वैयक्तिक दृष्टि तो मुझी पर केन्द्रीभूत रहा करती थी। वह इस बात को कभी न भूल पाती थी कि ससुराल के बिना लड़की का जीवन अपूर्ण रहता है।

अब उसको इस घर और ससुराल में एक स्पष्ट अन्तर दिखाई देने लगा था। वह अन्तर जीवन के केवल बाह्य प्रकरणों में न था। बहुतेरी कल्पनाएँ जो एक-न-एक स्वप्न के समान मन में आती रहती हैं, वे स्वामी के घर में ही अपना रूप ग्रहण करती हैं। उसको यह भी सोचने का अवसर मिलने लगा था कि अब इस घर में साड़ी-ब्लाउज़ ही नहीं, शृंगार-प्रसाधन के सारे पदार्थों के संकलन में मेरा प्रमुख हाथ नहीं रहेगा। माता-पिता द्वारा मेरी इन आवश्यकताओं की पूर्ति की भी एक सीमा रहेगी। मुख्य रूप से मुझे ससुराल और विशेष रूप से स्वामी की क्षमता का ध्यान रखना पड़ेगा।

जहाँ तक आवश्यकताओं के साथ जीवन-व्यापारों का सम्बन्ध था, मंजु के सामने अब तक कोई समस्या नहीं उत्पन्न हुई थी। किन्तु कमरा, बरामदा, आँगन, ऊपर ले जाने वाली सीढ़ियाँ, छत, छत के ऊपर का कमरा और उसके आगे के सहन, भरे घर की चहल-पहल और उसका वातावरण, दिन और रात की गोष्ठियाँ और उन सबमें लिप्त स्वामी का प्रमुख व्यक्तित्व उसे बारम्बार याद आता था।

अन्त में, जब वह खाना खाने बैठी, तो माँ उसके साथ थी। फिर जब वह दिन में आराम करने के लिए पलँग पर गई, तब भी माँ बड़ी देर तक उसके पास बैठी रही। एक बार मस्तक पर उसका हाथ चला गया तो माँ ने पूछा—"सर में दर्द तो नहीं है मंजु?" मंजु ने संयम के साथ उत्तर दिया—"नहीं तो!" विवाह से पूर्व वह पान न खाती थी, किन्तु अब वह दिन-भर में दस-पाँच बार पान खाने लगी थी; बल्कि इसी निमित्त वह अपना पनडब्बा साथ लेती आई थी। एक बार तो माँ को कहना भी पड़ा—"क्या बताऊँ, पान लगा लेने पर उसे तुरन्त मोड़कर मुँह में रख लेने की मेरी आदत पड़ गई है। मुझे इस बात का ध्यान ही नहीं रहता कि पहले तुझे देकर बाद में मैं खाऊँ।"

मंजु मुस्कराती हुई बोली—"तो क्या हुआ अम्मा?"

उसने उत्तर दिया--"नहीं मंजु, मूल बात तुम समझ नहीं रही हो। ब्याह से पहले जो बेटी बिटिया रहती है, विवाह के बाद वही बेटी रानी बन जाती है।"

तब मंजु मन-ही-मन सोचने लगी—'सचमुच जीवन के इस मोड़ और परिवर्तन की मैं पहले कल्पना भी नहीं कर सकती थी।'

मंजु अपने इस परिवर्तन को दो रूपों में देखती थी। एक तो जीवन के नाना उपकरणों और बाह्य जीवन-व्यापारों में और दूसरे मानस-लोक की विवृतियों, तरंगों, कामनाओं, ऊहापोह की आनुषंगिक परिणतियों के अर्थों और अर्थान्तरों में। कभी-कभी उसे एक प्रकार की आशंका भी होती : क्या ससुराल सदा ऐसी ही रहती है? सदा राग-रंग से अनुरंजित, मनोविनोद से ओत-प्रोत, चहल-पहल के कोलाहल से चिरगुंजित और आमोद-प्रमोद की नाना कल्पनाओं से मुखरित, उल्लसित, कल्लोलित। फिर वह सोचती : नहीं, कभी-न-कभी तो जीवन की करवटें और उसके मोड़ संघर्ष को जन्म देते ही होंगे।

इसी क्रम में जब वह स्वामी के जिद्दी और अड़ियल स्वभाव के थोड़े-से प्रकट हुए मर्म का ध्यान करती तो एक आशंका उसके मन में अपने-आप उत्पन्न हो उठती : और तो सब ठीक है। अगर कोई बात कभी उठेगी भी, तो उसके मूल में मुख्यरूप से ये ही होंगे।

फिर उसने सोचा : कहीं ऐसा न हो कि मेरी अनुपस्थिति में ही ऐसा कोई प्रसंग आ जाय।

संभावनाओं के इस ऊहापोह में उसे स्पष्ट बोध होने लगा कि विवाह हो जाने के बाद जीवन का सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है। आज तो प्रत्यक्ष रूप से यही जान पड़ता है कि उस घर-द्वार और परिवार में स्वामी के साथ मेरा जीवन संलग्न हो उठा है। इस घर के साथ मेरे सम्बन्ध की एक सीमा है। निवास की भी एक अवधि है, एक सीमा है। उस सीमा के साथ मेरे अपने निज के जीवन-स्तर और बहू होने के नाते अपने ऐश्वर्य और वैभव का भी एक अलग अस्तित्व है। यहाँ लौटकर आवश्यक वस्तुओं के क्रय और सामान्य आवश्यकताओं की सम्पूर्ति के लिए अपने पास से खर्च करने में मेरी जो मर्यादा है, वह अम्मा और बाबू से मांगने में नहीं है। तब कुछ क्षणों के लिए वह यह भी सोचने लगी कि महीने-दो-महीने तक तो कोई बात नहीं, उसके बाद मैं क्या करूँगी ?

इस प्रकार के नये-नये प्रश्नों के उभरते हुए चेहरे जब उसके सामने आते, तब वह विचार में पड़ जाती और अन्त में इसी परिणाम पर जा पहुँचती कि मेरा एक अलग संसार है, अलग अस्तित्व है, मेरी समस्याएँ ही अलग हैं। फिर इन प्रश्नों के समाधान की ओर जब उसका ध्यान जाता, तब वह इसी विचार में पड़ जाती कि यहाँ रहकर मनःस्थितियों के इस मर्म को मैं उन तक कैसे पहुँचाऊँ ?

श्वेत आलोक का बिजली का लगा हुआ राड जब कक्ष में दूधिया प्रकाश फैलाने लगा तब उसने पंखे का बटन भी झट-से दबा दिया। अब गगन में बादल-परियाँ चन्द्रदेव के साथ लुकाछिपी की क्रीड़ा में लग गई थीं और पवन अमन्द गति से बहने लगा था। निकट के किसी उद्यान में आम की डाल पर बैठी हुई कोयल बोल रही

थी और कहीं-न-कहीं से बिस्कुट का टुकड़ा पाकर आलमारी के नीचे बैठी हुई चुहिया उसे मुँह चलाती हुई कुतर रही थी। उसकी छोटी-छोटी आँखें उपेन्द्र को बड़ी प्यारी लग रही थीं।

एकाएक वह सोचने लगा : प्रकृति की नैसर्गिक लीलाओं में कभी अन्तर नहीं पड़ता। पता नहीं मंजु इस समय क्या कर रही हो !

इतने में उसकी छोटी बहन कान्ति ने आकर किवाड़ों पर दस्तक दी और कह दिया—"भैया, दूध ले लो।"

उपेन्द्र ने उठकर किवाड़ खोल दिये और पूछा—"सुरेन्द्र क्या कर रहा है ?"

कान्ति बोली—"वे तो बाजार से बरफ लाने गये हैं ; क्योंकि फूफाजी कह रहे थे—पानी ठण्डा नहीं है।"

उपेन्द्र बोला—"तो इस दूध में बरफ के टुकड़े डालकर ले आओ।"

कान्ति दूध वापस ले गई और उपेन्द्र फिर चिन्तन में लीन हो गया। पिताजी के पास मुझे जाना चाहिये। कम-से-कम इतना तो जान ही लेना चाहिये कि उन्होंने मेरी तर्क-संगत बातों का कुछ बुरा तो नहीं माना।

परन्तु उसे फिर ध्यान हो आया : मंजु ने चलते समय कहा था—"पत्र जरूर डालना, मैं प्रतीक्षा में रहूँगी। प्रतीक्षा जब किसी के आगमन और आह्वान की, स्मरण और आकर्षण की माँग पर उद्गीति हो उठती है तब उसकी नींद हिरण बन जाती है। पिताजी ने यह नहीं सोचा कि इस समय विवाह कर देने से मेरी परीक्षा में कितना विघ्न पड़ेगा ?

—और तुम अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाले उपेन्द्र ! विवाह हो जाने के बाद जब मंजु अपने घर चली गई तब भी तुम उसकी स्मृति में अपना यह मूल्यवान समय नष्ट कर रहे हो !

—तब तो मुझे मंजु को चिट्ठी नहीं लिखनी चाहिये और मुझे पिताजी से झगड़ना भी नहीं चाहिये था।

—मगर कुछ भी हो, अधिकारों के लिए लड़ना हमारा धर्म है।

इतने में सुरेन्द्र ने बरफ़ से तर किया हुआ दूध उपेन्द्र के समक्ष उपस्थित करते हुए कह दिया—"लो दद्दा।"

उपेन्द्र ने दूध का गिलास उसके हाथ से लेकर पूछा—"जीजाजी क्या कर रहे हैं ?"

सुरेन्द्र ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"वे तो मौसाजी के साथ बैठे रमी खेल रहे हैं।"

"और फूफाजी ?"

"फूफाजी तो सो गये।"

"और मामाजी ?"

"मामाजी भी रमी में शामिल हैं।" सुरेन्द्र मुस्कराता हुआ बोला—"उन्होंने तो धीरे-धीरे करके दो-चार रुपये के पैसे भी बना लिये।"

"यानी मामाजी ने जीजा, फूफा और मौसाजी के पैसे उड़ा दिये !"

सुरेन्द्र बोला—"तो क्या हुआ, आखिर को खेल ठहरा, इसमें पैसे उड़ाने का प्रश्न तो उठता नहीं। यह तो अपने-अपने अधिकार की बात है।"

समाधान पाकर उपेन्द्र को कुछ संतोष मिला और तब उसने पूछा—"सुरेन्द्र, तुमको अपनी परीक्षा का बिलकुल ध्यान नहीं है।"

"ध्यान क्यों नहीं दद्दा, लेकिन जब मेहमानों से घर भरा हुआ हो तो अध्ययन करने की सुविधा ही कहाँ रह जाती है ?"

उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"तुम यह क्यों भूल जाते हो कि सुविधाओं का सृजन अधिकारों के तनाव से उत्पन्न होता है। अध्ययन करने के तुम्हारे अधिकार की अवहेलना कोई कर नहीं सकता। तुम अगर अपने कमरे में बैठकर अध्ययन में लीन हो जाते तो इसके लिए तुमको भला कौन मना कर सकता था ?"

"दद्दा, आप कहते तो ठीक हैं, मगर अतिथियों का ध्यान तो हमको रखना ही पड़ता है।"

"यहीं तुम गलती करते हो सुरेन्द्र। अतिथि-सत्कार कोई ऐसी वेदी नहीं है, जिस पर अधिकार जैसी महत्तम वस्तु का बलिदान किया जा सके। अतिथि-सत्कार की इस दौड़-धूप का उस समय कोई ध्यान नहीं रक्खेगा जब तुम परीक्षा में या तो उत्तीर्ण न होगे और होगे भी तो तीसरी श्रेणी में। उस समय तुम्हारा सारा गौरव, मान-प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी। तुम्हारी पीड़ा के आँसू पोंछनेवाला उस

समय कोई न होगा ?"

"दद्दा, आप क्या कह रहे हैं ?"

"मैं बिलकुल ठीक कह रहा हूँ सुरेन्द्र !"

"दद्दा, कर्त्तव्य भी तो कोई वस्तु होती है ।"

"होती है, मगर अधिकार के बराबर नहीं । पहले जब हम अधिकार प्राप्त कर लेते हैं तब कहीं कर्त्तव्य की सत्ता का उद्‌भव होता है ।"

दूध का गिलास खाली करके सुरेन्द्र को लौटाते हुए उपेन्द्र ने अन्त में कह दिया—"मैं तो अभी पढ़ूँगा, लेकिन तुम अब चुपचाप जाकर लेट रहो और सो जाओ । इस समय ग्यारह बजे हैं। हो सके तो चार बजे, नहीं तो पाँच बजे उठकर पढ़ने में लग जाना । समझे ? जाओ ।"

सुरेन्द्र चुपचाप लौट गया और उपेन्द्र इधर-उधर से ध्यान हटाकर अपनी एक पाठ्य-पुस्तक आलमारी से निकाल कर अध्ययन में लीन हो गया ।

वह अभी दस पंक्तियाँ भी नहीं पढ़ पाया था कि इतने में कुन्दनबाबू ने आकर कहा—"अरे उपेन्द्र !"

"आइये, जीजाजी, कहिए । आप लोगों की रमी हो गई ?"

"हाँ, हो गई ।"

"कैसा फलाफल रहा ?"

"एक रुपया सात आने की हार में मैं रहा, दो रुपये तेरह आने की हार में रहे मौसा जी और तीन रुपये सवा चार आने की हार में फूफाजी ।"

"तब तो मामाजी ने आप लोगों के कई रुपये मार दिये । उन्होंने यह नहीं सोचा कि मान्य लोगों का पैसा उनको लेना भी चाहिये या नहीं !"

"देखो उपेन्द्र, खेल में पैसे मार देने का कोई प्रश्न नहीं उठता । अगर उठता होता तो फिर रमी के खेल में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं होती । जहाँ बौद्धिक प्रयोगों के प्रशिक्षण होते हैं, वहाँ छोटा-बड़ा, मान्य-अमान्य का प्रश्न नहीं उठता ; क्योंकि अधिकार के बिना जीवन का अस्तित्व ही स्थिर नहीं होता ।

"क्या कहा ? बौद्धिक प्रयोगों के अधिकार का प्रश्न ?"

"हाँ !"

कुन्दनबाबू के इस उत्तर को सुनकर उपेन्द्र उत्साहित होकर बोला—"तब तो मैंने कोई ग़लती नहीं की जीजाजी !"

"इसी सम्बन्ध में मैं तुमसे बातें करने के लिए आया हूँ। मगर फिर यही सोचने लगता हूँ कि तुमसे इस सम्बन्ध में कुछ कहना भी चाहिये या नहीं, क्योंकि मुझे भय है कहीं तुम झट-से यह उत्तर न दे बैठो कि आपको ऐसा कहने का अधिकार नहीं है।"

हँसता हुआ उपेन्द्र बोला—"जीजाजी, आप कैसी बात कर रहे हैं !"

"जैसा मैं तुम्हें देखता हूँ, उसी के अनुरूप सोचता भी हूँ। मैं अब तक नहीं समझ सका कि तुमने बाबू को ऐसा तीखा उत्तर क्यों दिया !"

"अच्छा, तो जीजाजी आप भी मुझको गलत समझ रहे हैं। यानी आप भी यही मानते हैं कि मंजु की विदाई के सम्बन्ध में पिताजी से मुझे कहने का कोई अधिकार न था।"

"मेरा यह अभिप्राय नहीं है उपेन्द्र ! मैं तो केवल यह कहना चाहता हूँ कि पत्नी के सम्बन्ध में तुम्हारे अधिकार की भी एक सीमा है। तुम यह तो सोचते हो कि पत्नी मेरी है। उसको भेजने न भेजने का अधिकार और दायित्व केवल तुम्हारा है। पर तुम यह क्यों नहीं सोचते कि एक ओर जो तुम्हारी पत्नी है, वही दूसरी ओर बाबू की बहू भी तो है। तुम्हारी पत्नी को विदा करने का अधिकार उनको भले ही न हो, लेकिन अपनी बहू को विदा करने का अधिकार उनको अवश्य है। भ्रमवश तुमने अपने अधिकारों की मर्यादा को असीम समझ रक्खा है, जबकि प्रत्येक अधिकार की एक सीमा होती है। तुमने अगर अपने अधिकारों की सीमा की रक्षा की है तो दूसरी ओर तुमने बाबू के अधिकार की सीमा तोड़ डाली है ! और यहीं पर तुमने ग़लती की है, बहुत बड़ी ग़लती की है। तुमको मालूम नहीं, इस सम्बन्ध में फूफाजी, मौसाजी और मामाजी ही नहीं, मेरा भी यही मत है।"

"जीजाजी, आपने मुझको, मेरी भावना को, सही अर्थों में समझने की चेष्टा नहीं की। मैंने बाबू से इतना ही तो कहा था कि आप इस सम्बन्ध में मुझसे पूछ नहीं सकते थे ? मेरा अभिप्राय यह था...।"

"तुम्हारा अभिप्राय वेद-वेदान्त का कोई सूत्र नहीं है, जिसको मैं न समझ

सकूँ । समझे ? तुम अपने अधिकारों की दुन्दुभी बजाते समय बहू के प्रति पिता के अधिकारों का एक क्षीण स्वर भी नहीं सुनना चाहते ! पत्नी के प्रति एक भावना रखने का तुम्हारे लिए बहुत बड़ा मूल्य है और पुत्र के भविष्य-निर्माण और बहू के प्रति उनकी कर्त्तव्य-भावना का तुम्हारी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं ! बहू की विदा यदि वे न करते तो तुम्हारे परीक्षाफल का जो कुरूप होता, उसकी कालिमा से मुक्ति पाने का तुम्हारे समक्ष कौन-सा मार्ग होता ?"

उपेन्द्र ने इस बात की कल्पना भी न की थी कि जीजाजी भी उसका पक्ष न लेकर पिता का ही पक्ष लेंगे । उसने अधिकार की बात तो सोची थी, उसके प्रसार और विस्तार की भी कल्पना उसने की थी, किन्तु अधिकार की सीमा के सम्बन्ध में उसने सचमुच पर्याप्त विचार नहीं किया था ।

किन्तु इसी अवसर पर उसे ध्यान आ गया । कहीं उसने पढ़ा था— 'ईश्वरनिर्मित वायु और जल की भाँति समस्त वस्तुओं पर सबका समान अधिकार होना चाहिए ।'

किन्तु वह अपने ही तर्क से विभ्रम में पड़ गया और उसने सोचा—हो सकता है जीजाजी का यह कथन सही हो कि मैंने अपने अधिकार की बात सोचते समय बाबू के अधिकार की बात नहीं सोची । इसलिए पहले तो वह विचार में पड़ गया पर फिर तुरन्त कुछ सोचकर उसने उत्तर दिया—"जीजाजी, आप चाहे जो कहें, चाहे जो समझें ; लेकिन मैं इतना अवश्य कहूँगा कि मेरे विवाह की बात तय करते समय उन्होंने अपने प्यार और ममत्व का भले ही ध्यान रखा हो, किन्तु मेरे भविष्य-निर्माण का उन्होंने कतई ध्यान नहीं रखा । अब इस समय मेरी जो मनःस्थिति है, उसको देखते हुए अगर मैं परीक्षा में अपनी महत्त्वाकांक्षा के अनुरूप उत्तीर्ण न हो सका, तो इसका दायित्व किस पर होगा ?"

"उपेन्द्र, तुमको पता नहीं है कि उन्होंने इस समस्या पर कितना विचार किया था । अगर इस समय तुम्हारा विवाह न होता तो फिर निषिद्ध ग्रहों के प्रतिकूल हो जाने के कारण तुम्हारा विवाह दो वर्ष के लिए रुक जाता । एक बात, दूसरी बात यह है कि दो वर्ष बाद भी फिर कौन कह सकता है कि ऐसे सज्जन और सम्पन्न समधी उनको मिल ही जाते ? जैसे काल किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, वैसे बहुतेरे संयोग भी दुबारा लौटकर नहीं आते । ऐसी सुन्दर, सुशील

श्रौर विदुषी बहू भी कौन कह सकता है कि उन्हें मिल ही जाती ? तुमको पता होना चाहिए कि लक्षण, गुण और स्वभाव की दृष्टि से तुम्हारा विवाह एक आदर्श विवाह हुआ है। रही परीक्षा की बात, सो तुमको अध्ययन करने के लिए अभी पूरा-पूरा एक मास पड़ा हुआ है। अगर तुम चाहो तो अब भी अपनी महत्त्वाकांक्षा की रक्षा कर सकते हो।"

"जीजाजी, आप मेरी परिस्थिति के मर्म को अभी तक समझ नहीं पाये। मैं चाहूँ तो अब भी अध्ययन में पूरा मन लगाकर परीक्षा में ऊँची चोटी पा सकता हूँ। मैं समुद्र बन सकता हूँ और परीक्षा के सर्वोच्च गौरव का हिमालय भी पार कर सकता हूँ। मगर आपकी दृष्टि से। लेकिन परिस्थिति में पड़कर समस्या के मूल मर्म को समझने का अवसर आपको कैसे मिल सकता है ? जब मेरा विवाह नहीं हुआ, तब इस सप्ताह के अन्दर, मेरी मानवी भावनाओं, लहरों और तरंगों में पड़कर उसके क्रीड़ा-कौतुक की लोल परिणतियों का न आपको ज्ञान हो सकता है और न आप उनकी कल्पना कर सकते हैं। पहले तो आपने मेरे सारे वातावरण को मादक बना दिया, फिर आप मुझसे कहते हैं कि उसके प्रभाव से सर्वथा निस्संग, मुक्त बनकर तत्काल अभी पूर्व स्थिति में आ जाऊँ, यह सम्भव कैसे हो सकता है ? जब आप-जैसे पढ़े-लिखे सुसभ्य व्यक्ति इस प्रकार की अव्यावहारिक नीति का उपदेश देने लगते हैं, तब मुझे आश्चर्य होता है। मेरा मानसिक उद्वेलन, मैं फिर कहता हूँ कि आप नहीं समझ सकते और इसलिए इस सम्बन्ध में मुझे उपदेश देने के अधिकारी भी नहीं हो सकते। रह गई बात बाबू के अधिकार की, सो उसके आगे मैं अपना सिर झुकाता हूँ। लेकिन इतना कहे बिना मान नहीं सकता कि इस समय मेरा विवाह करके उन्होंने मेरे अधिकारों की ही नहीं, मेरे भविष्य-निर्माण की भी उपेक्षा की है। आप सब लोग मिलकर परस्पर सलाह-बात करके एर स्वर से मुझे दोषी ठहराने की चेष्टा चाहे जितनी करें, लेकिन अपने अधिकार की बात को लेकर मैं घुटने टेकने के लिए कदापि तत्पर नहीं हो सकता।"

कुन्दनबाबू उपेन्द्र से इस प्रकार के उत्तर की आशा नहीं करते थे। वे यह भी नहीं जानते थे कि उसका पक्ष मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतना पुष्ट होगा कि वे निरुत्तर हो उठेंगे। किन्तु कुन्दनबाबू अन्ततोगत्वा उपेन्द्र के बहनोई थे। अतः

अतः अपने अहम् को संकट में पाकर वे कुछ अप्रतिभ और विवर्ण हो उठे। उनका मुख तमतमा उठा, उनकी भृकुटियाँ, नासापुट, यहाँ तक कि उनके होंठ भी फड़क उठे और कोई युक्तिसंगत उत्तर देने के स्थान पर उनके मुख से निकल गया—"मैं तुमसे बहस नहीं करना चाहता उपेन्द्र, समझे! मै तुमसे सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि तुम्हारे इन सभी तर्कों का मुख्य आधार अहंवाद है। तुम यह भूल गये हो कि तुम कह क्या रहे हो और किससे कह रहे हो! तुमने बाबू की ही नहीं, मेरी भी अवहेलना की है। मैं तो तुमको सलाह देने आया था, लेकिन तुम्हारी इतनी हिम्मत कि तुम मुझको मनोविज्ञान पढ़ाने लग गये! तुम्हारे जैसे बहत्तर छोकरों को मैं जेब में रखता हूँ। तुमने अपने को समझ क्या रक्खा है? मैं अभी बाबू के पास जाकर कहूँगा कि अपने समधी को टेलीग्राम दे दें: हम गौना लेने को कल चले जायेंगे और तुमको साथ चलना पड़ेगा। फिर मैं देखूँगा कि तुम्हारा भविष्य कैसा बनता है! सब दोष बाबू का है, मेरा है, घर-भर का है, तुम्हारा कुछ भी नहीं है! शर्म करो उपेन्द्र, शर्म करो!"

और इस कथन के साथ कुन्दनबाबू ताव खाकर लौट पड़े।

उपेन्द्र दरवाजे पर स्तब्ध, मौन खड़ा-खड़ा उन्हें देखता रहा।

३

कुन्दनबाबू ने जीवन में कभी मात नहीं खाई थी। ऐसे अवसर आये थे, जब उनको अनेक बार आघात सहने पड़े थे। एक प्रकार से उनका स्वभाव पड़ गया था कि अवसर आने पर वे तत्काल तो जवाब देना टाल जाते थे, परन्तु फिर कालान्तर में ढेले का जवाब ईंट से न देकर पत्थर से देते थे।

सीढ़ियाँ उतरते समय एक बार उनके मन में आया कि 'वह सीधा अपने कमरे में जाकर अपना सामान ठीक करें और फिर तुरन्त ताँगा बुलवाकर पूर्णिमा को लेकर स्टेशन चल दें। निश्चित है कि ऐसे समय पूर्णिमा की माँ

उन्हें मनाने आयेगी और यह भी तय है कि बाबू भी पूछेंगे ही कि आखिर बात क्या है ? आज ही चले जाने की तैयारी तो दिन में तुमने कभी प्रकट की नहीं !'

तब वह स्पष्ट रूप से कह देगा—'अब इस घर से मेरा नाता टूट गया। उपेन्द्र ने मेरा अपमान किया है। इसके लिए जब तक वह मुझसे क्षमा नहीं माँगेगा तब तक...तब तक मेरे लिये इस घर में एक क्षण भी ठहरना असम्भव है।"

सीढ़ी उतरकर वह बीच के कमरे के द्वार पर आ खड़े हुए, जिसमें सभी अतिथियों के सूटकेस और ट्रंक रक्खे हुए थे। कहीं पर संतरे के छिलके पड़े थे और कहीं पर पपीते के बीज। एक-आध जगह पर फैली हुई चीनी के दाने चींटियाँ घसीटे लिये जा रही थीं।

उन्होंने सोचा—'अस्तित्व की रक्षा के लिए ये चींटियाँ तक कितनी सतर्क रहती हैं !'

पर इस अवसर पर एक बार फिर उनके मन में आया कि दंड तो इस वक्त बुद्धि का दिवालियापन प्रकट करता है—यह कोई जवाब हुआ ?—यह तो खिसियानी बिल्ली के खम्बा नोचनेवाली बात हुई !

फलतः कुन्दनबाबू ने निश्चय किया कि ऐसे उद्दंड, असभ्य आदमी के लिए इस दंड का कोई महत्त्व नहीं है। इससे तो यह कहीं अच्छा होगा कि यह परीक्षा में न बैठ सके, ताकि इसका भविष्य ही नष्ट हो जाय ! कहीं नौकरी न पाये और अन्त में मेरी दया का अधिकारी बनकर भिखारी के रूप में मेरे दरवाजे पर आ खड़ा हो ! मैं उसकी एक बात न सुनूँ। वह मेरे सामने गिड़गिड़ाये, रोये और मैं उत्तर में कह दूँ—'उस दिन की बात भूल गये जब एक साधारण बात पर तुमने मेरा अपमान किया था ! निकल जाओ मेरे घर से और फिर कभी शक्ल न दिखलाना !'

कुन्दनबाबू कभी सिगरेट न पीते थे और पीते भी थे तो ठीक ऐसे ही समय पर जब उनका मस्तिष्क उत्तेजित हो उठता था। तब सिगरेट का पहला कश लगाने के बाद ही उनको परिस्थिति की गम्भीरता के साथ-साथ आगे बढ़ने की व्यथा का भी भान हो जाता था।

अपने लैदर के बैग में रक्खे पैकेट से एक सिगरेट निकालकर उन्होंने उसे जलाया और एक कश लिया। अब टहलते-टहलते उनके मन में आया—'मगर इस

प्रकार की प्रतिक्रिया आदमी की नहीं, शैतान की होती है। जहाँ अधिकार का प्रश्न हो, वहाँ ईर्ष्या के बदले द्वेष की भड़कती हुई अग्नि में पड़कर मैं अपने साले, ऐसे आत्मीय का जीवन ही नष्ट कर डालूँ—यह उत्तर किसी मनुष्य का नहीं, उस अलसेशियन कुत्ते का हो सकता है जो सुरक्षा के नाम पर भौंकने के बदले उसके पैर में ही अपने पैने दाँत पूरे-के-पूरे जमा देता है। दाँत लगा देना और बात होती है और पिण्डली के नीचे के माँस का लोथड़ा ही निकालकर खा जाना और बात! यह तो हिंसक पशु से भी गया-बीता आचरण हुआ।'

कुन्दन ने एक कश और लिया, तब उसके मन में आया कि एक तरकीब और हो सकती है। यह परीक्षा में पास भी हो तो इसे फेल करवा दिया जाय! फेल होने वाले लड़कों को पास करवाना तो कठिन भी होता है, लेकिन, प्रतिहिंसा में पड़कर किसी भी प्रश्न-पत्र की उत्तर-पुस्तक पर जीरो लिखवा देना बड़ा आसान है! ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर जब यह उपेन्द्र उदास होकर रोयेगा, तब मैं इसके ऊपर सिगरेट का धुआँ फेंककर हँसूँगा।

एक लहर और। ...मगर इससे तो अच्छा यही होगा कि जो चुनौती मैं उसे दे आया हूँ, उसे ही कार्यरूप में परिणत करके दिखला दूँ। गौना लेने के लिए अगर बाबू तैयार हो जायं, तब इसका पास होना अपने-आप असंभव हो जायगा।

इस चिन्तन का परिणाम यह हुआ कि जिस बात को वह बहुत उत्तेजना में कह आया था, उसी में उसको अब गन्ने का-सा मीठा-मीठा रस निकलता जान पड़ा। विधिवत् छिले और कटे हुए टुकड़े को दाँत से दबाने वाले गन्ने के रस का नहीं, उस रस का जो गन्ने को बीच से तोड़कर उसे मोड़ने पर अपने-आप निकल पड़ता है। उसको कुछ ऐसा विदित हुआ कि वह रस टपक रहा है और मेरे मुँह में गिर रहा है। तब उसे अपने इस चिन्तन पर हँसी आ गई—मैं भी खूब हूँ!

अभी अधिक देर नहीं हुई थी। जली हुई सिगरेट की आधी टुकड़ी वहीं ताक में रखी ऐश-ट्रे में कूँचता हुआ वह घूम-फिरकर झट-से अपने ससुर काशी बाबू की चारपाई के पास जाकर खड़ा हो गया।

उस समय तक काशीबाबू को नींद नहीं आई थी। वे करवटें बदल रहे थे। बारम्बार उनके मन में आ रहा था—'उपेन्द्र को हो क्या गया है? मैंने सदा इस

बात का ध्यान रखा है कि इसका संग-साथ बिगड़ने न पाये। इसके मित्रों में भी ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसके सम्बन्ध में सोचा जाय कि उसी ने इसे भड़काया होगा।'

फिर उन्हें ध्यान आया कि इसको सिनेमा देखने की भी ऐसी कोई लत नहीं है कि सोचा जाय, पश्चिमी सभ्यता में रँगे हुए समाज की देखा-देखी इसमें ऐसा परिवर्तन आ गया है।

अंत में, काशीबाबू इसी निश्चय पर पहुँच रहे थे कि कुछ भी हो, मुझे अब इसको जल्दी-से-जल्दी अलग कर देना होगा। अंत में बच्चे ही हैं और बचपना कहते किसको हैं ? मैं उसे अपने ढंग से क्यों न चलने दूँ ? उसकी इच्छाओं के विरोध करने में मेरा कौन-सा बड़प्पन है ? कुछ भी हो, मैं तो यही समझता हूँ कि सब ठीक है। वही हो रहा है जो होना चाहिये। विवेकानन्द ने कहा है—'कार्य बिगड़े या बने, इसकी मुझे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो एक उसी पर सारा भार डालकर उसके इस संकेत मात्र की प्रतीक्षा करूँगा कि तुम्हें उधर जाना है। आज सोचता हूँ कि इतना ही मेरे वश में रह गया है।'

काशीबाबू जब कभी धर्म-संकट में पड़ते, तब वे मन-ही-मन मन्दिर में जाकर भगवान् के सामने न आरती उतारते, न हाथ जोड़कर वन्दना का गीत ही गाते। मन्दिर के द्वार की सीढ़ी के पास चुपचाप खड़े-खड़े सोचने लगते; बल्कि भगवान् से पूछते—'प्रभु, तुम्हारी क्या इच्छा है ?'

उनके मन-ही-मन में एक प्रश्न उठता—'तुम भगवान् से पूछते हो, तुम्हारी क्या इच्छा है ?'

और तब एक उत्तर उनके अंतःकरण से फूट पड़ता—'यह अखिल सृष्टि तुम्हारी, उसके कर्ता-धर्ता विधाता तुम। इसमें मेरी इच्छा का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? नाटक तुम लिखते हो, रंगमंच तुम तैयार करवाते हो, सूत्रधार तुम बनते हो और अंत में निर्देशन भी तुम्हारा ही रहता है। हम तो केवल पात्र हैं, जो तुम्हारे संकेतों पर अभिनय करते रहते हैं। इसमें मेरी इच्छा का प्रश्न कहाँ उठता है ?

फिर उनके मन में आया—'क्या यह मुझको बतलाने की आवश्यकता है कि मेरे मन में क्या है ? जबकि तुम घट-घटवासी हो। हम मूर्खजन बेकार ही आपस

में इतना लड़ते-झगड़ते हैं। तो मेरी कोई इच्छा नहीं है परमपिता। लीलामय तुम हो। तुम जैसा कहोगे, वही मुझे करना पड़ेगा।'

सोचते-सोचते उन्होंने फिर करवट बदल ली। अंतःकरण से एक स्वर फूटा—'जगतपिता, मुझे कुछ नहीं चाहिये और अगर चाहिये तो केवल इतना कि तुम उसे सुबुद्धि दो।'

एकाध मिनट तक चुपचाप खड़े रहने के बाद कुन्दन बाबू बोले—"बाबू !"

चिन्तन में काशी बाबू जब कभी लीन हो जाते तब उनकी आँखें बन्द हो जाती थीं। दामाद की इस पुकार पर तुरन्त उन्होंने आँखें खोल दीं और कह दिया—"अरे...तुम ! इस समय कैसे आये बेटे ?"

कुन्दनबाबू ने उत्तर दिया—"बाबू, जब से मैंने सुना कि उपेन्द्र ने तुम्हारा अपमान किया, तब से मेरा चित्त ठिकाने नहीं है। तरह-तरह की बातें भीतर-ही-भीतर उठती-गिरती लहरों की भाँति सामने आती-जाती हैं। मुझे तो प्रत्यक्ष ऐसा जान पड़ता है कि अगर शीघ्र यानी कल ही उपेन्द्र के गौने के लिए कोई यत्न न किया गया, तो भगवान् न करे ऐसा कुछ हो; पर आशंका कुछ ऐसी हो उठती है कि हमारी थोड़ी-सी भूल से कहीं उपेन्द्र पागल न हो जाय !"

अब काशी बाबू तत्काल उठकर बैठ गये, क्योंकि तब तक कुन्दन बाबू चारपाई के पैताने बैठ चुके थे। कुछ चिन्ता के साथ काशी बाबू ने पूछा—"क्या...तुमसे भी उसकी कुछ...बातचीत हो गई ? अ...मेरा मतलब यह है कि क्या वह कुछ कह रहा था ?"

कुन्दनबाबू ने मुँह पर कृत्रिम मुस्कराहट लाकर कह दिया—"जो कुछ भी कह सकता था कह दिया; बल्कि जो उसे नहीं कहना चाहिये था, वह भी उसने कह दिया।"

और इस कथन के बाद कुन्दनबाबू का स्वर कुछ मन्द हो गया। बड़ी गम्भीरता के साथ वे धीरे से बोले—"सबसे बड़ी चिन्ता की बात यह है बाबू कि उसके दिमाग का कोई स्क्रू ढीला हो गया है। मुझे तो प्रमाद के पूरे-पूरे लक्षण उभरे हुए जान पड़ते हैं। आज तो अभी पहला दिन है। दो ही दिन में हो सकता है कि वह प्रलाप करना शुरू कर दे !"

काशीबाबू देर तक स्तब्ध-मौन बने रहे। एक बार उनके मन में आया—'यह सब जो मैं सुन रहा हूँ वह पिघला हुआ गरम सीसा है, जो कानों में डाला जा रहा है।'

किन्तु फिर उसी क्षण उन्होंने सोचा—'नहीं। यह सब बकवास है। आघात की वह प्रतिक्रिया है, जो कभी-कभी बिलकुल अस्वाभाविक और कृत्रिम होती है। यह वह बादल है, जो केवल गरजना जानता है, बरसना नहीं।'

कुन्दनबाबू ने यह सोचा न था कि उनके ससुर काशीबाबू उनकी इस बात को भी पी जायेंगे। अन्त में निराश होकर चिन्त्य स्वर में उन्होंने कह दिया—"बाबू मैंने जो कुछ कहा, तुमने उसे सुना नहीं?"

"सुना ही नहीं, मैंने उसके कार्य-कारण-सम्बन्ध पर विचार भी किया है।"

अब कुन्दनबाबू ने कुछ तीव्र स्वर में कह दिया—"कुछ विचार-इचार नहीं किया है आपने। आपको यह भी पता नहीं है कि उसने मेरा अपमान किया है।"

काशीबाबू ने उत्तर दिया—"तुम कोई नई बात नहीं कह रहे हो। उसने मेरा अपमान किया है, अपनी माँ का अपमान किया है। इस बात में पहले से ही इतना और निहित है कि उसने सारे परिवार का अपमान किया है। और मैं कहता हूँ, किया है, अपमान; लेकिन इतना और समझ लो कि यह समस्या का केवल एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि यह हमारे पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न नहीं है। प्रश्न केवल वयस्कता के अधिकार का है और जब अधिकार का प्रश्न उठेगा तब मेरी स्थिति पिता की न होगी, उपेन्द्र की माँ की स्थिति उसकी माँ की न होगी। और कुन्दनबाबू, कान खोलकर सुन लो, तुम्हारी भी स्थिति बहनोई की न होगी, क्या बात करते हो मुझसे? बचपना किया है तो मेरे लड़के ने किया है और तुम्हारे साले ने किया है, किसी शत्रु ने नहीं किया है।"

कुन्दनबाबू और गम्भीर हो गये और बोले—"बाबू, मैं आपसे ऐसी आशा नहीं करता था।"

कुन्दनबाबू चारपाई से उठकर खड़े हो गये।

काशीबाबू को भी उठना पड़ा। तब तक कुन्दनबाबू ने कह दिया—"बाबू, आप मेरा अपमान कर रहे हैं।"

काशीबाबू ने डाँटते हुए कहा—"सोच-समझकर बात करो कुन्दन। तुम्हारा अपमान पहले मेरा अपमान है और मेरा अपमान पहले तुम्हारा अपमान। इसका अर्थ क्या हुआ, जानते हो?"

कुन्दन बाबू उनके इस प्रश्न का कोई उत्तर न दे सके और तब काशीबाबू ने स्वयं कह दिया—"आपस के इतने निकटतम सम्बन्धों में कोई एक-दूसरे का अपमान कर ही नहीं सकता। ज़रा-ज़रा-सी बात में जिन लोगों को अपमान की गंध आने लगती है उनकी नाकें जान पड़ता है गंध रोग से ग्रस्त हो चुकी हैं। ऐसे लोगों को सबसे पहले अपने इसी रोग की दवा करानी चाहिये।"

कभी ऐसा अवसर नहीं आया था कि कुन्दन बाबू को काशी बाबू के इस तार्किक रूप का थोड़ा-सा भी भान हो पाता। पर आज उन्होंने अनुभव किया कि वे साधारण व्यक्ति नहीं, वे समुद्र हैं जो अपनी मर्यादा कभी नहीं छोड़ता। वे हिमालय हैं, जो चाहे तो इस बात का गर्व कर सकता है कि मैं भारत का ही नहीं संसार-भर का मुकुट हूँ। पर ऐसा कुछ उन्होंने मुँह से कभी नहीं कहा। वे गंगाजल की पवित्रता के ऐसे जीवंत रूप हैं कि मरते क्षण उसके दो बूँद जल तक को लोग तरसा करते हैं। कुन्दन बाबू प्रतिभा के ऐसे भक्त थे कि जब कोई उन्हें मात दे देता था, तब वे उसकी स्तुति करने लगते थे। यह उनका गुण भी था और यही उनकी दुर्बलता भी थी।

और तब अवसर देखकर विनम्र वाणी में उन्होंने कह दिया—"बाबू, मेरा मतलब आपसे बहस करने का तो था नहीं। मैं तो आपको परिस्थिति की सूचना देने आया था और विशेष रूप से यह देखने कि आपको नींद आई या नहीं। वैसे, अब भी मेरा अभिमत है कि ऐसी दशा में उसका गौना तुरन्त ले लेना चाहिये।"

काशीबाबू ने मुस्कराते हुए धीरे-से उत्तर दे दिया—"तुम्हें पता नहीं, वह जो कुछ मुझसे कह गया है, उस पर स्वयं मन-ही-मन पछता रहा होगा। इसके सिवा एक बात और है। हम इस जगत् को जैसा समझते हैं, वैसा वह वास्तव में है नहीं। ध्यान से देखो, तो यह सम्पूर्ण जगत् एक विचार है। वह विचार, जो स्वप्न टूटने पर भासित होता है, स्वप्न से बिलकुल विपरीत कि अरे मैं कहाँ चला गया था। वास्तव में यहाँ कहीं कोई नहीं है। कुन्दन बाबू जितनी जल्दी भड़क उठते थे उतनी ही

जल्दी शान्त भी हो जाते थे। लौटते हुए वे सोचते जा रहे थे—'निर्णय चाहे जो हो पर मैं समझौता तब तक न होने दूँगा जब तक उपेन्द्र मुझसे क्षमा न माँगेगा।'

जिस समय कुन्दन बाबू अपनी चारपाई पर जाकर लेट रहे, ठीक उसी समय उपेन्द्र मंजु को पत्र लिखकर लिफाफा चिपकाता हुआ मन-ही-मन कहता जा रहा था—'जीजाजी के पास मेरे तर्कों का कोई जवाब तो था नहीं। यह बात दूसरी है कि मैं समाज की प्रचलित परम्पराओं को तोड़ने का अपराधी बन गया हूँ। और जीवन-मूल्यों को बदलने में नई संतान को, नई पौध की, समाज की नई पीढ़ी को, इस प्रकार का संकट तो मोल लेना ही पड़ता है।'

जिस समय कुन्दन बाबू चलने लगे, उस समय छत पर इधर-उधर कई लोग, जो लेटे हुए थे, उठकर बैठ गये। कलावती उस जीने पर खड़ी थी जो ऊपरी कमरे से लगा हुआ था। कुन्दन बाबू के जाते ही कलावती स्वामी के पास आकर बोली—"तुम उपेन्द्र के पीछे अपने सभी सम्बन्धियों से इस तरह झगड़ोगे तो कैसे काम चलेगा ?"

काशी बाबू कमरे के अन्दर जाकर एक कुर्सी पर आ बैठे और संकेत से उन्होंने किवाड़ बन्द कर लेने का आदेश कर दिया। साथ ही नीली रोशनी का बल्ब जलाने के लिए बटन दबाया और पंखा खोल दिया।

कलावती पास की पड़ी हुई कुर्सी खिसकाकर बैठ गई।

इतने में काशीबाबू बोले—"उपेन्द्र की माँ, तुम नहीं जानतीं, पीड़ा कितनी गहरी है !"

"पीड़ा चाहे जितनी गहरी हो उसको सहना ही हमारा धर्म है।"

"नहीं उपेन्द्र की माँ, पीड़ा सहना हमारा धर्म नहीं है। पीड़ा उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों, उनके मूल कारणों और आधारों से साफ बचकर निकल जाना हमारा धर्म है। मैं सोचता हूँ कि हमने अपने पारिवारिक और सामाजिक धर्म को एक ही मानक से देखने की चेष्टा की है। मैं सोचता हूँ जैसे-जैसे समाज की रूढ़ियाँ नष्ट होती हैं वैसे-वैसे समाज भी बदलता है। इस दृष्टि से देखें तो उपेन्द्र हमारी अगली पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता हुआ दिखाई देता है और मेरी धारणा है, यही स्वाभाविक भी है। उपेन्द्र हमारी पिछली पीढ़ी के पिछलग्गुओं में से नहीं है।

ध्यान से सुन लो हमारे आगे की पीढ़ी एक दिन इससे भी आगे बढ़ जायगी। उस समय यह सब देखने के लिये या तो तुम रहोगी नहीं या अगर रहोगी भी तो नगण्य और अस्तित्वहीन बनकर रहोगी।"

कलावती जानती थी कि उपेन्द्र के बाबू की हालत उस मछली की-सी है, जो जलाशय के तट पर धूप से तपती हुई कँकरीली ज़मीन पर पड़ी हुई तड़प रही है। उसने उत्तर दिया—"मगर इसमें दुःखी होने की क्या बात है? ब्याह कर ही दिया है। ईश्वर चाहेगा, तो कहीं-न-कहीं उसको नौकरी भी मिल ही जायगी। हम लोगों के सामने अपने पैरों खड़ा हो जाय और दुलहिन को साथ लेकर अपनी इच्छानुसार सुख-शांति का जीवन व्यतीत करे, इससे अधिक हमको चाहिये क्या? मेरी समझ से तो इसमें शिकवा-शिकायत की गुंजाइश रह ही नहीं जाती।"

अगम गम्भीरता में काशीबाबू की मुस्कराहट देखने योग्य होती थी। एक दाँत गिर गया था। उसकी रिक्तता से उस मुस्कराहट की दीप्ति कुछ अनोखी हो उठती थी। उसी मुस्कराहट में उन्होंने उत्तर दिया—"हारा हुआ खिलाड़ी इसी तरह सोचता है। हमारी स्थिति आज उस कुत्ते की-सी बन गई है जिसको अगर प्यार से तू-तू कहकर बुलाओ, तो पूँछ हिलाता हुआ सामने आ खड़ा होगा और अगर धत्-धत् करके कहो—हट यहाँ से, तो वह मुँह खोल जीभ लपलपाता हुआ बाहर भाग जायगा, शायद यह सोचकर कि इस वक्त स्वामी का मूड ऑफ है, या शायद यह सोचकर कि हम बेसमय आ गये। और संतोष की एक साँस लेकर आगे बढ़ जायगा।"

काशी बाबू जब यह वाक्य कह रहे थे तब उनका कण्ठ गीला हो चुका था और उनकी आँखें चमकने लगी थीं। पीड़ा के स्वरों को हृदय की वाणी देकर वह बोलते तो जा रहे थे किन्तु बीच-बीच में बहुतेरी बातें छूटती जा रही थीं, जिनको वे आवेश के कारण समेट नहीं पा रहे थे।

इसी समय एक चुटकी भर तम्बाकू मुँह में डालती हुई कलावती बोली—"तुम अभी समझ नहीं रहे हो कि उपेन्द्र का वास्तव में मतलब क्या है। हमसे भी उसकी बातें हुई थीं और उसने साफ़-साफ़ कहा था कि बाबू और अम्मा से मेरी कोई दुश्मनी तो है नहीं। उसको शिकायत केवल इस बात पर है कि तुमने

और साथ ही हमने भी उसके अधिकारों को समझने की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। इसका साफ़-साफ़ मतलब तो यह हुआ कि तुम अपनी ही जोते जाओगे और उसकी एक भी न सुनोगे।"

काशीबाबू कलावती का मर्मस्थल पहचानते थे। विनोद के स्वर में बोले—

"अच्छा तो क्या मैं यह समझ लूं कि उसके इस व्यवहार में तुम्हारी सलाह शामिल है?"

कलावती का उत्तर था—

"अब तुम मुझे भी ग़लत समझने की कोशिश कर रहे हो।"

"फिर तुम उसका पक्ष क्यों ले रही हो?"

"इसलिए कि जो उसका पक्ष है वही अन्त में हमारा भी है। ज़रा सोचो, जब बच्चे सयाने हो जाते हैं, तब उनके सामने हम लोगों को पारस्परिक प्यार के व्यवहारों में कितना संयम और नियन्त्रण बरतना पड़ता है!"

"यहाँ तुम उस आदमी का पक्ष ले रही हो जो इस संयम और नियन्त्रण को ढकोसला समझता है। काश! तुमने समझा होता कि उसने हम लोगों को हमारे ही मकान से निकालकर बाहर सड़क पर खड़ा कर दिया है। एक ललकार के साथ हमसे कह दिया गया है कि हमारे बीच में तुमको बोलने का कोई अधिकार नहीं है। अपने जीवन के मालिक ही नहीं, निर्माता भी हम स्वयं हैं!"

थोड़ी देर के मौन के अनन्तर काशीबाबू की वाणी एकाएक रुक गई और आँखों में आँसू आ गये। आर्द्र और रुद्ध कण्ठ से कुछ मन्द स्वर में उन्होंने कह दिया—"उपेन्द्र की माँ, इसी दिन के लिये तुमने रात-रात जागकर उसका पालन-पोषण किया था। पेशाब कर देने के बाद जब उसके नीचे का बिछौना गीला हो जाता था, तब उस गीले भाग पर तुम आ जाती थीं और उपेन्द्र को सूखे भाग की ओर लिटा देती थीं। उन दिनों बिजली का पंखा हमें नसीब न था। रात-रात-भर तुम उसके ऊपर पंखा ढलती रहती थीं। ऐसे भी दिन हमने देखे हैं कि पैसे के अभाव में या तो तरकारी न बन सकी है, या घी चुक जाने पर हमने सूखी रोटी खाली है, लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसके बीमार पड़ जाने पर महँगे-से-महँगे इन्जेक्शन्स लगवाने में हमने अपना हाथ खींच लिया हो!"

"आज तुम यह क्या कहने लगे उपेन्द्र के बाबू, जिन बातों को कभी मुँह पर नहीं लाना चाहिये, उन्हींको तुम दाँव पर लगाने का साहस करने लगे। प्यार हो कि त्याग, न अहसान के साथ कभी होता है, न दाँव की कौड़ी कभी बनता है। उसका मूल्य और महत्त्व तो इसी बात में है कि उसे कभी जबान पर न लाया जाय।"

आँसू पोंछते हुए काशीबाबू बोले—"यह तो तुम ठीक कहती हो। असल में हमीं अपराधी हैं।" काशी बाबू अब फूट-फूटकर रोने लगे। सिसकियाँ इतनी उभर रही थीं कि चाहने पर भी वे उन्हें रोक न पाते थे।

धैर्य उस बाँध के समान होता है, जो शिलाखंड की भाँति कभी टूटने का नाम नहीं लेता। किन्तु प्रकृति की लीला ही कुछ ऐसी है कि पहाड़ों के, पत्थरों के टुकड़े आपस में टकराते-गिरते-पड़ते, पर्वत-श्रेणियाँ उतरते, आगे बढ़ते हुए गंगा की धारा में आकर रेणु के कण बन जाते हैं। बड़े-से-बड़े वृक्षों के निकट जब किसी सरिता का तोड़ आ जाता है, तब वही वृक्ष कगार टूटने के साथ-साथ प्रवाह में समा जाते हैं। धारा के वेग में पड़कर उनकी संगति भी तिनकों की जाति से जा मिलती है। जीवन की अंतिम परिणतियों का भी यही परिणाम और स्वरूप है।

स्वामी को मनाते-मनाते अन्त में कलावती भी रो पड़ी। काशीबाबू रुदन-भरे कंठ से बोल उठे—"मुझे जीवन में अब किसी बात की चाह नहीं रह गई। एक तरह से मैं समाप्त हो गया हूँ। उपेन्द्र की माँ, तुमको मेरे आंतरिक स्वरूप का ज्ञान नहीं है। सर काट लिये जाने के बाद धड़ मात्र जैसे तड़पता रहता है, इस समय बिलकुल उसी स्थिति का मैं अनुभव कर रहा हूँ। जीवन की शेष घड़ियों में अगर तुम्हारी पावन आत्मीयता का सहारा न होता तो शायद मैं आज ही समाप्त हो गया होता। मगर नहीं, हम हारे हुए खिलाड़ी नहीं हैं। हम जीवन से लड़ना जानते हैं। उपेन्द्र जो चाहता है उसे मैं करके दिखा दूँगा। यह बात मैं किसी आवेश में आकर नहीं कह रहा हूँ।"

आँसू पोंछते हुए कलावती ने धीरे-से कह दिया—"आवेश में तो तुम अब भी हो।" फिर काँपते हुए होंठों से गिरते हुए आँसुओं के स्वरों में वह बोली—"तुम्हारा रोना मुझसे देखा नहीं जाता; उपेन्द्र के बाबू, समाज से बड़े-बड़े मोर्चे

तुम ले चुके और कभी तुम्हारे मत्थे पर शिकन नहीं आई। आज बच्चे ने ज़रा-सी बात कह दी और तुमको बुरा लग गया ! अपना हित और अहित समझने का दावा वह खुद करने लग गया तो हमको बीच में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? जहाँ रहे खुश रहे।"

"मगर उपेन्द्र की माँ, मेरा कहना तो यही है कि आखिर इतनी जल्दबाज़ी क्यों ? आज अगर हम उसको धार पर छोड़ दें तो उसको कहीं ठिकाना मिलेगा ? यह पहले तो परीक्षा में पास हो जाय, नौकरी करने लगे, अपनी गृहस्थी सम्हालने लगे; तभी तो हमको छुट्टी मिलेगी। ज़रा इस तमाशे को तो देखो कि अभी अपने पैरों पर खड़े तो हो नहीं पाये और दावा करते हैं कि हम आपसे ज़्यादा समझते हैं ! आश्चर्य नहीं कि ये लोग आपस में बैठकर हम लोगों को गालियाँ देते हों और हमें बेवकूफ समझते हों !"

"कुछ करें। हमारी बला से। जैसा करेंगे वैसा भोगेंगे। बहुत हो चुका, मैं जाती हूँ, तुम सोओ निश्चिन्त होकर।"

जाते-जाते फिर एकदम से रुककर कलावती बोली—"अरे हाँ, तुमने आज दूध नहीं पिया ?"

"और वो बौर्नविटा मैं उस दिन ले आया था, उसका तो उपयोग ही नहीं हुआ।"

हँसती हुई कलावती बोली—"वह तो कभी का खत्म हो गया था, दूसरा डिब्बा आया था। शायद कुछ बच रहा हो, मैं डालकर ले आती हूँ।"

उसने यह नहीं बतलाया कि पहला डिब्बा उपेन्द्र और उसकी दुलहिन के कमरे में ही खत्म हुआ था !

"मगर तुमको मुस्कराहट क्यों आई इस बात पर ?"

कलावती ने गुप्त मर्म पर परदा डालते हुए उत्तर दिया—"कुछ नहीं, ऐसे ही।"

इतना कहकर कलावती चली गई और काशी बाबू पुनः लेट गये।

४

दूसरे दिन जब कुन्दनबाबू अपना बेडिंग सम्हालने लगे तभी बाथरूम से निकल-कर उपेन्द्र बोल उठा—"अरे जीजाजी, आपने तो तैयारी भी कर दी !"

कुन्दनबाबू ने उत्तर दिया—"निमन्त्रण पर आने का अधिकार ही मुझे था लेकिन ठहरने की भी एक सीमा होती है, उस सीमा को पार करने का अधिकार तो मुझे है नहीं।"

उपेन्द्र ने अनुभव किया कि यह जीजाजी नहीं, उनकी प्रतिक्रिया बोल रही है। तब उसने उत्तर दिया—"मगर जीजाजी, एक निवेदन है मेरा इस विषय में कि निमन्त्रणों में हम जाते हैं अपने मन से, मगर लौटते हैं उसके मन से जो हमें बुलाता है।"

अब कलावती ने भी उपेन्द्र के स्वर-में-स्वर मिलाते हुए कहा—"हाँ बेटा कुन्दन, जाना तो दूसरों के ही मन से होता है। चलो पहले नाश्ता कर लो, सब लोग बैठे हैं।"

कुन्दन ने उत्तर दिया—"ठीक है होता है, लेकिन जब सारा कार्यक्रम समाप्त हो गया, तब अधिक रहने में तुक क्या है ?"

"मगर तुम्हारी तो छुट्टियाँ चल रही हैं। पूर्णिमा का भी कहना है कि हमें तो ऐसी कोई जल्दी है नहीं।"

"बकती है। उसको मालूम है छुट्टियों के बाक़ी दिन हम नैनीताल में बिताना चाहते हैं। उससे कह दो, तैयार हो जाय।"

कलावती भीतर जा रही थी। इसी समय पूर्णिमा ने आकर कहा—"ज़रा यहाँ आओ, एक बात सुनो।"

कुन्दनबाबू पूर्णिमा के निकट जाकर बोले—"कहो।"

पूर्णिमा बोली—"अम्मा कह रही हैं, कम-से-कम दो-चार दिन तो और बने रहो।"

कुछ रुखाई के साथ कुन्दनबाबू बोले—"क्यों ?"

पूर्णिमा ने सर लचाकर एक नाखून को दूसरे से खोदते हुए उत्तर दिया—

"अम्मा का कहना है कि तुम यहीं बनी रहो। अगर उनको नैनीताल जाना है तो क्या वे अकेले नहीं जा सकते ?"

कुन्दनबाबू ने जवाब दिया—"कामकाज खत्म हो गया, मेरी समझ में नहीं आता कि अब क्या तभी जायँगे जब मुँह खोलकर कह दिया जायगा कि तशरीफ ले जाइये। अब हमको यहाँ रहने का अधिकार ही क्या है ?"

कुन्दनबाबू ने यह अधिकारवाली बात कुछ इतने ज़ोर से कही कि उपेन्द्र के कानों से भी जा टकराई। उसने अनुभव किया कि यह सब कल की मेरी बातों की प्रतिक्रिया है। लेकिन उसने आगे बढ़कर कुन्दनबाबू से कुछ भी कहना उचित नहीं समझा। कुन्दनबाबू ने फिर पूर्णिमा से इतना और कह दिया—"अब हम लोगों को यहाँ रहने में कोई गौरव नहीं है। तुमको चलना है और आज ही, अभी, इसी वक्त चलना है।"

कलावती को जो सामान देना था उसे देकर उसने पूर्णिमा की तैयारी कर दी। ताँगा बुला लिया गया। अन्त में कुन्दनबाबू काशीबाबू के पास जाकर बोले—"बाबू, अब मैं चलूँगा।"

काशीबाबू के मन में आया कि वे दो-चार दिन रुक जाने के लिए कहें, लेकिन इस परिस्थिति के प्रति उन्होंने कोई मनोभाव प्रकट नहीं किया और संक्षेप में केवल इतना कह दिया—"जाओगे ?"

"हाँ, बाबू।"

"अच्छा जाओ, सुखी रहो। कभी-कभी पत्र डाल दिया करो। महीनों हो जाते हैं और तुम्हारा पत्र नहीं आता।"

ताँगा बाहर आ चुका था और सुरेन्द्र कुन्दनबाबू का सामान उस पर रखवा रहा था। पूर्णिमा कलावती के गले मिलकर रो रही थी। इसी समय उपेन्द्र के मामा भी काशीबाबू के पास आकर बोले—"जीजाजी, अब मैं भी चलूँगा।"

काशीबाबू ने इतना ही पूछा कि—"बहन के पास हो आये ? उसने अनुमति दे दी ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"हाँ जीजाजी, वैसे चाहे मैं बना भी रहता, लेकिन बच्चों के परीक्षा के दिन हैं, ऐसे समय मुझे उनके पास ही रहना चाहिये।"

उपेन्द्र इतने अन्तर से खड़ा था कि मामा की बात सुनकर वह सोचने लगा— इन पर भी उसी प्रतिक्रिया का प्रभाव है। इसीलिए उसने कुछ भी कहना उचित नहीं समझा।

इसी क्रम में उपेन्द्र के फूफा और मौसाजी भी तैयार हो गये। उपेन्द्र ने कहा भी कि आप लोगों की गाड़ी आने में अभी देर है; किन्तु तभी फूफाजी ने कह दिया—"बेटा, साथ ही चले जाने में ठीक रहता है। इतने दिन साथ रहे हैं थोड़ी देर का साथ और भी हो लेगा। और यहाँ अकेले पड़े रहने में अच्छा भी तो नहीं लगेगा।"

सुरेन्द्र ने आकर बतलाया कि उस ताँगे में तो जगह है नहीं। फूफाजी, आप और मौसाजी के लिए एक इक्का ले आया हूँ।

मामाजी ने पूछा—"और हमारे लिए क्या इन्तजाम है ?"

सुरेन्द्र बोला—"मामाजी, आप तो हमेशा बैलगाड़ी से जाते रहे हैं।" और इतना कहकर हँस दिया और इसके तुरन्त बाद कह दिया—"आपको जीजाजी बुला रहे हैं,उन्होंने आपके लिए जगह बना ली है।"

इस प्रकार पाँच मेहमान जब दरवाजे से एक साथ चलने लगे, तब काशीबाबू स्वयं भी वहाँ आ पहुँचे।

चलते समय उन्होंने केवल अपने बहनोई के पैर छू लिये। एक शब्द भी उन्होंने नहीं कहा, किन्तु उनके चेहरे से ही प्रकट होता था कि आज के इस जगत् और युग में कुछ भी स्थिर नहीं है। कोई नहीं जानता कि हम फिर कब मिलेंगे। कोई यह भी नहीं जानता कि हम अब फिर कभी मिल भी पायेंगे या नहीं। पूर्ण खुले हुए पलकों से इन मेहमानों के विदा होने के अकल्पित किन्तु अपरिहार्य दृश्य को वे एकटक देख रहे थे।

उपेन्द्र आया और फूफा, जीजा, मौसा, मामा आदि को नमस्कार करने के बाद लौट गया। वह प्रकारान्तर से जैसे यह कहता हुआ भीतर चला गया कि मैं बहुत व्यस्त हूँ, मुझे जरा भी अवकाश नहीं है।

किन्तु सुरेन्द्र साइकिल लेकर सबके साथ चल दिया।

उपेन्द्र लौटकर सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ मन-ही-मन कुछ गंभीर, उदास और विकम्पित-सा अनुभव कर रहा था। उसको वे दिन याद आ रहे थे जब जीजा और फूफा ही नहीं, मामाजी को भी जाते-जाते जबर्दस्ती रोक लिया जाता था। पूर्णिमा दीदी, सुरेन्द्र से उनकी कोई ऐसी चीज़ ग़ायब करा देती थीं, जिसके कारण उनका जाना रुक जाता था। कभी-कभी मामाजी सायंकाल के किसी सिनेमा देखने का कार्यक्रम घोषित कर देते थे या फिर अम्मा स्वयं ही कह दिया करती थीं कि अब आज तो मैं किसी को जाने न दूँगी। यह भी कोई बात हुई कि सब लोगों ने एक ही दिन जाने की तैयारी कर ली।

उपेन्द्र सोचने लगा कि मैं जानता हूँ कि जाने की किसी को ऐसी जल्दी न थी, लेकिन सब-के-सब मिलकर जब मुझे चुनौती देना चाहते हैं तब मैं कैसे मान लूँ कि यह व्यक्ति की लड़ाई है। वास्तव में यह व्यक्ति की लड़ाई है ही नहीं। यह तो सिद्धान्त का प्रश्न है। फिर अपने कमरे के अन्दर पहुँचते हुए उपेन्द्र सोचने लगा : माना कि मेरे कारण सब-कुछ हो रहा है। मगर बाबू तो रोक सकते थे उनको। उन्होंने भी परिस्थिति के इस मर्माघात पर कुछ ध्यान नहीं दिया।...मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इन दशाओं में मेरा पढ़ना-लिखना क्या होगा ! सब-के-सब मिलकर मुझे नीचा दिखाना चाहते हैं। और सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि बाबू मुझे समझ नहीं पा रहे हैं। क्या मेरे हृदय में उनके लिए श्रद्धा नहीं है या उनको आघात पहुँचाने में मुझे सुख मिलता है ? हाँ, एक बात समझ में आती है कि सबके सामने मुझे बाबू से इस प्रकार नहीं कहना चाहिये था। एकान्त में कह देता, तो बात और होती। तात्पर्य यह कि मेरे सिद्धान्त में कोई त्रुटि नहीं है, उसके प्रतिपादन में ही मुझसे भूल हो गई है। मगर यह ऐसी कोई बड़ी भूल भी नहीं है। एक दिन आयेगा, जब बाबू यह अनुभव करेंगे कि उन्होंने मुझे ग़लत समझ लिया था।

कई दिन की गम्भीरता ने उसके जीवन का सारा रस सोख लिया था। अपने मन से कोई बात कहने का उत्साह ही जैसे तिरोहित हो गया था। जब उसे कुछ न सूझा तो वह यह सोचकर माँ के पास चल दिया कि उसी के पास जाकर पूछूँ कि आज खाने को क्या बन रहा है ? वह उठा और धीरे-धीरे चलता हुआ उसके पास

तो नहीं, दरवाजे पर ठिठककर खड़ा हो गया, जिसका द्वार आधा खुला हुआ था।

कलावती कह रही थी—"मुझे भी आज कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। हमारे घर में ऐसा कभी हुआ नहीं कि साधारण रूप से बोलने-बतलाने, हँसकर बात करने का सारा उत्साह ही जाता रहा हो!"

"लेकिन उपेन्द्र की माँ, मैं कर ही क्या सकता हूँ! सब लोग अगर यही सोचते हैं कि अब हम उस जगह जा पहुँचे हैं, जहाँ घड़ी-भर भी खड़ा रहना हमारे सम्मान के विरुद्ध है, जहाँ पिता की बात का कोई मूल्य न रह जाय और लड़का यह कह बैठे कि आपको इसका क्या अधिकार था, वहाँ कोई रिश्तेदार कैसे ठहरता? मैं जानता था कि वह लोग ऐसा कह देते और प्रकारान्तर से कह ही रहे थे, इसीलिए मैं बीच में नहीं पड़ा।"

"मुझे इन सब बातों पर कुछ नहीं कहना है। मैं तो इतना जानती हूँ कि हर आदमी का अपना-अपना कर्तव्य अलग-अलग है। किसी का अपना कर्तव्य किसी दूसरे पर आश्रित नहीं है। कर्तव्य ऐसा कोई साधन नहीं है जो अनुकरण से मिलने वाला हो। तुमने ऐसा किया, इसलिए मैंने भी ऐसा किया, यह सब बकवास है। अपने-अपने धर्म-कर्म अपने-अपने साथ हैं। तुमको स्पष्ट कहना था कि आज किसी का जाना नहीं हो सकता।"

"इस घर में अब मेरा कोई अधिकार नहीं रह गया। विवाह हुआ था उपेन्द्र का, इसलिए उपेन्द्र को ही कहना चाहिये था।"

इतनी बातें सुनकर उपेन्द्र चुपके से लौट पड़ा।

वह सोच रहा था—'हूँ, तो यह बात है। मैं ही अपराधी हूँ। ठीक है मैं अपराधी हूँ। क्योंकि मैं विद्रोही हूँ। मैं इस समाज को बदलने के क्रम में लड़ाई का पक्षपाती हूँ। उनकी दृष्टि में मैं अशिष्ट, उद्दंड और असभ्य हूँ! पर मैं कहता हूँ... नहीं, नहीं, नहीं। मैं इस समाज के सामने घुटना कभी नहीं टेक सकता, कभी नहीं।

आवेश की झोंक में आकर उसका पैर इधर-उधर हो गया और वह गिरते-गिरते बचा।

सड़क पर ठिलिया में खरबूजे के ढेर रक्खे हुए एक अधेड़ आदमी एक फटी,

मैली बनयायन और ढीला; मैला पैजामा पहने हुए आवाज़ लगा रहा था— 'ये लखनव्वा खरबूजे चार पैसा सेर लगाये !'

उपेन्द्र ने एक बार खरबूजे के ढेर की तरफ़ देखा और फिर उस आदमी की ओर। खरबूजे दो प्रकार के थे। एक तो थे कुछ-कुछ पीलापन लिये हुए सफ़ेद, दूसरे कुछ गहरे पीले रंग के। बड़ा-से-बड़ा खरबूजा भी तौल में सेर-भर से कम था। उस आदमी के चेहरे पर जो निराशा और चिन्ताजन्य उद्वेग था, उपेन्द्र को उसका आभास पाने में देर न लगी। पर यह सोचकर उसको कुछ धैर्य ही मिला कि संसार के सारे दुःखीजन एक ही जाति के नहीं, सगे भाई भी हैं।.....इसके भीतर भी हो सकता है कोई अंतर्विरोध चल रहा हो।

ससुराल से मिले हुए रुपयों में खर्च निपटाकर बचे हुए दस-पाँच रुपये अभी उसके पास बने हुए थे। सहानुभूति का जो भाव उसके मन में आया, तो उसने सोचा कि थोड़े-से खरबूजे इससे ले ले, तो मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा, लेकिन इसको जीवन-संघर्ष में जूझने में, सम्भव है कुछ सहायता मिल जाय। इसलिए पाँच सेर खरबूजे तुलवाकर पाँच आने पैसे निकालकर उसने उस आदमी को दे दिये।

खरबूजे लेकर वह जब घर की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा, तब उसके मन में आया, मालूम नहीं किसने, शायद, ब्राउनिंग ने कहा था—'जब मनुष्य के अन्तर्लोक में द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, तब उसका मान और महत्त्व बढ़ जाता है।' पता नहीं इस कवि ने यह बात किस अभिप्राय से कही। अनुभव तो यही कहता है कि अन्तर्द्वन्द्व में एक तो आत्म-निरीक्षण की वृत्तियाँ अधिक जागरूक हो उठती हैं, दूसरे अभीष्ट-सिद्धि के नये-नये ढंग, प्रकार और साधन भी हमें अधिक सुझाई देने लगते हैं। और भी एक बात है कि मनुष्य मात्र से प्रेम करने के छोटे-मोटे कार्य ही मानवता के स्तर को ऊँचा बना सकते हैं।

खरबूजा कितनी जल्दी रंग बदलता है—वह अपने ही स्वरूप पर हँस पड़ा। शायद अन्तर्द्वन्द्व की घड़ियों में विचरण करने के कारण मेरा अपना महत्त्व भी पहले से कुछ अधिक हो गया है। और भी एक बात हो सकती है...अगर मैं खरबूजा हूँ और मेरा रंग बदल रहा है तो निश्चय ही मैंने भी कोई खरबूजा देखा है।

फिर उसने इस विषय पर सोचने की आवश्यकता नहीं समझी। दो-चार पग

आगे बढ़ाते-बढ़ाते वह फिर सोचने लगा, इस बीच कुछ ऐसी बातें सुनने को मिलीं जिनकी मैंने पहले कभी कल्पना भी न की थी। मेरे परम आत्मीय और अंतरंग मित्र श्यामविहारी का कहना है कि मैं भोजपत्र पर लिखकर दे सकता हूँ : इस बार की परीक्षा में तुम प्रथम श्रेणी नहीं पाओगे, नहीं पाओगे।"

तब जो कुछ हो रहा है, बहुत अच्छा है। अगर प्रकृति और सृष्टि का यही नियम है तो मैं बिना किसी क्षोभ और आक्रान्त भाव से यह दण्ड भोगने के लिए तैयार हूँ। लेकिन एक बात ज़रूर है; जो कुछ हो गया, सो हो गया। अब मैं अपने इस घर के वातावरण को अधिक क्षुब्ध और अशान्त न होने दूँगा।

खरबूज़े ले जाकर उसने कलावती के सामने रख दिये। दिन चढ़ आया था और आज नित्यक्रिया में काशीबाबू बहुत पिछड़ गये थे। बबूल की भीगी हुई दातुन लेकर उसकी कूँची से वे अपने दाँत साफ़ कर रहे थे। खरबूज़ा लेकर माँ के पास जाते हुए उन्होंने जो उपेन्द्र को देखा तो एकाएक उनके भीतर से एक निःश्वास निःसृत हो उठा। 'ये खरबूज़े मेहमानों की उपस्थिति में नहीं आ सकते थे। फिर उनकी अंतरात्मा ने ही उत्तर दिया—'हाँ, नहीं आ सकते थे। जब घर का स्वामी ही अपनी सहज चेतना खो बैठे तब तो ऐसा होगा ही। घर में जहाँ चार बरतन होते हैं, विशेष रूप से किसी भौवे में एक साथ रक्खे हुए, जब उनमें से एक निकालोगे तो सब-के-सब बोल उठेंगे ही। यह प्रकृति का साधारण धर्म है। उपेन्द्र कुछ भी करे लेकिन मुझको तो अपने कर्तव्य से पराङ्मुख न होना चाहिए था।'

कलावती बोली—"खरबूज़े तू ले आया यह तो बड़ा अच्छा किया। वैशाख के महीने में और खास तौर से शुक्ल पक्ष में खरबूजे खाने और खिलाने की बड़ी महिमा है। हाँ, सिर्फ़ एक कसर रह गई। और जब मन में बात आती है, तो कहनी ही पड़ती है।"

"क्या अम्मा ?"

"यही कि ये खरबूज़े कल आते तो कितना अच्छा रहता !"

उपेन्द्र को प्रतीत हुआ जैसे किसी ने उसकी कमर में सुई चुभो दी हो। आज छठा दिन है, वह अपने मकान से नीचे उतरकर गली में गया ही नहीं। उसे फिर अपने ऊपर हँसी आ गई। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। वह एक प्रवाह था,

जिसमें मैं बहा जा रहा था। वह एक आँधी थी, जो मुझे आगे को अग्रसर बनाती जा रही थी। वह एक अमानिशा थी, जिसमें मुझे आगे का मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। वायु, मिट्टी, छोटे-छोटे तिनकों और कागज़ के टुकड़ों से मिला हुआ एक विवर्त और बवण्डर था, जिसमें पड़कर मैं अपनी अन्तश्चेतना खो बैठा था! अपनी इस परिस्थिति से अवगत होने के बावजूद मैंने अपनी गलती स्वीकार नहीं की। पर जान पड़ता है कि यह परिस्थिति भी स्वाभाविक है; क्योंकि वैवाहिक कार्यक्रम की निष्ठा ने मेरे आत्म-चिन्तन के सारे द्वार अवरुद्ध कर दिये थे। मैंने बाबू और अम्मा के सामने यह बात भी स्वीकार नहीं की। कदाचित् उसी का परिणाम मैं भोग रहा हूँ।

किसी प्रकार का उलहना न देकर उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"अम्मा, किसी को ख्याल ही नहीं आया और तुमने भी कोई संकेत नहीं दिया। अभी जो गली में उतरा तो ठिलिया में खरबूज़े दिखाई दे गये। मैंने सोचा कि लेता चलूँ। ऐसी तो कोई बात है नहीं कि समय पर ऐसी चीज़ें जान-बूझकर न लाना मैंने इधर एकदम पाँच-छह दिन में सीख लिया हो!"

दातुन करते-करते काशीबाबू उधर जो चले आये, तो उन्होंने भी सोचा—जान पड़ता है ज्वार समाप्त हो चुका है और अब समुद्र-तट धीरे-धीरे शान्त होने लगा है। आशा है कि दो-चार दिन में सब ठीक हो जायगा।

वे अभी यह सोच ही रहे थे कि एक कुली ने आकर कुन्दनबाबू का सामान बैठक में लाकर रख दिया। कुन्दनबाबू ने उसे पैसे चुकाते हुए बाहर आकर कलावती से कह दिया—"अम्मा, हमारी गाड़ी तो गई छूट। अब जो गाड़ी जाती है वह है मेल जो हमारे स्टेशन पर खड़ी न होगी।" और पूर्णिमा ने पास आकर हँसते हुए कह दिया—"कभी-कभी जल्दी करनेवाले लोगों को इसी तरह लौट आना पड़ता है।"

कलावती हँस पड़ी और बोली—"पूनो, मैं अभी यही सोच रही थी कि इतने सारे खरबूज़े खायेगा कौन?"

और उपेन्द्र ने कुंदनबाबू के पैर छूते हुए कहा—"मुझे अपनी ग़लतियों के लिये, अब जब मैं उन्हें अनुभव कर रहा हूँ, बड़ा खेद हो रहा है।"

कुन्दनबाबू ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"नहीं-नहीं, ऐसी तो कोई बात

नहीं। हमारी बहस तो सिद्धान्तों को लेकर होती है, इससे हमारे रिश्तों और आत्मीय सम्बन्धों में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।"

कलावती बोली—"भैया, अब जल्दी से स्नान कर डालो। आज तो मैंने अरहर की दाल बनाई है। उपेन्द्र, अपने जीजा को नहाने में सहायता कर दे बेटा, बाथरूम में साबुन शायद खत्म हो गया है। तू अपने पास से लाकर रख दे।"

उपेन्द्र सोचने लगा कि नहाने के साबुनों का एक पूरा डिब्बा मैंने चुपके से मंजु के ट्रंक में रख दिया था।

तुरन्त उसने उत्तर दिया—"मैं अभी बाजार से लिये आता हूँ।"

और वह कुन्दनबाबू से बोला—"मेरा ख्याल है जीजाजी, आप तो नहाने के पहले एक बार शौच को जाते हैं।"

फिर वह सीढ़ियों से नीचे उतर गया। वह अभी गली पर आया ही था कि एक विक्षिप्त पुरुष चिथड़े लपेटे और बाल बढ़ाये हुए पन्द्रह आने नग्न अवस्था में दिखाई पड़ गया, जो सड़क पर पड़ी हुई जलती बीड़ी को उठाकर उसका कश ले रहा था। उपेन्द्र क्षण-भर उसको देखता यह सोचता हुआ खड़ा रहा कि हमारी भी यही स्थिति हो सकती है, अगर हम सोच-समझकर न चले। हम प्रायः पीछे फिर-फिरकर देखते हैं जबकि आगे बढ़ने वाले पीछे फिर-फिरकर देखा नहीं करते। मगर अन्तश्चेतना के माध्यम से कौन कह सकता है कि यह आगे बढ़ना नहीं है। मैं यह सिद्ध करके दिखा सकता हूँ कि पीछे फिरकर देखना भी प्रगति का ही चिन्ह है। जो अन्याय करता है वह सहनेवाले की अपेक्षा सदा अधिक दुर्दशा में पड़ता है। यह उस विचारक का कथन है—प्रेम-शास्त्र के सम्बन्ध में जिसका नाम कभी भुलाया नहीं जा सकता। वह है प्लेटो।

साबुन की बट्टी लेकर जब उपेन्द्र घर की ओर बढ़ने लगा, तो पोस्टमैन उसके सामने पड़ गया। उपेन्द्र ने तत्काल पूछा—"कहो रामकिशन, मेरा कोई पत्र ?"

रामकिशन ने उत्तर दिया—"नहीं भैया, कोई पत्र नहीं।"

चुपचाप शान्त, गम्भीर उपेन्द्र घर आकर कुन्दनबाबू की सेवा में लग गया।

इसी समय काशीबाबू आकर बोले—"कुन्दन बेटा, अब नैनीताल जाकर सैर-सपाटे में रुपया उड़ाने का इरादा तो दो छोड़। छुट्टी में यहीं रहो। तुम मेरी इस

बात को टाल नहीं सकोगे।"

मुस्कराते हुए कुन्दनबाबू ने पूछा—"और उपेन्द्र ?"

"उससे क्या बहस ? मैं कह रहा हूँ, यह मेरे अधिकार की सीमा है।"

उपेन्द्र पास खड़ा सुन रहा था। झट से बोल उठा, "बाबू, तुम मुझे उस दिन के लिए माफ नहीं करोगे ?"

"बेटा, मैंने बुरा ही कब माना। कुन्दन बाबू ने जब सवाल कर दिया, तब मुझे कहना पड़ा।"

तब उपेन्द्र ने कुन्दनबाबू की ओर उन्मुख होकर कहा—"और जीजाजी, मैं आपसे भी यही आशा करता हूँ।"

कुन्दनबाबू ने क्षण-भर सोचा फिर कह दिया, "उस प्रसंग को मैं तो अपने जीवन का एक मोड़ मानने लगा हूँ। आज ही तुमने देख लिया होगा कि मैं तुम्हारी बहन को सबकी इच्छा के विरुद्ध लेकर चला गया था और यह तो संयोग और होनहार की बात है कि नया टाइम-टेबुल न खरीदने के कारण मुझे ध्यान न रहा कि अब पश्चिम की ओर जो गाड़ी जाती है, वह डेढ़ घण्टा पूर्व छूट जाती है।"

नहा-धोकर कुन्दनबाबू काशीबाबू और उपेन्द्र के साथ खाने पर बैठ गये। पूर्णिमा ने अमिया की चटनी बना रक्खी थी। उसे उसने पत्थर की छोटी-छोटी कुल्हियों में रख दिया। उपेन्द्र अभी थाली पर नहीं बैठा था। गिलासों में शीतल जल छोड़ने के बाद गुलाबजल की शीशी लाकर उसने तीनों पर छिड़क दिया।

कुन्दनबाबू बोले—"वाह ! क्या बात है उपेन्द्र तुम्हारी !"

कलावती ने एक सन्तोष की साँस ली और थालियों में सब्जी, दाल, चावल, पापड़ टमाटर, मूली और धनियाँ की सलाद का प्लेट रख दिया। कान्ति फुलके निकालती जाती थी और कलावती उन पर घी चुपड़ती जाती थी। सबके थालों में दो-दो फुलके रखती-रखती बोली—'हमारे समाज में कुछ प्रथाएं बड़ी बेहूदी हैं।"

कुन्दनबाबू मुँह चलाते और मुस्कराते हुए बोले—"जैसे ?"

"जैसे यही।" कलावती ने उत्तर दिया—"कि बहू के साथ छोटे भाई को या तो साथ भेजा ही न जाय और अगर भेजा ही जाय तो उससे कह दिया जाय कि दो दिन रहकर लौट आना।"

कुन्दनबाबू ने पूछा—"और ?"

कलावती बोली—"और विवाह के बाद बेटी से भी यह आशा न की जाय कि वह चार ही दिन में सहर्ष लौटना स्वीकार कर लेगी।"

उपेन्द्र मुस्कराने लगा और कुन्दनबाबू बोले—"मेरा इस विषय में मौन रहना ही उत्तम होता, लेकिन जब बात उठी है तब मन में आता है कि कह ही डालूँ !"

पुलकित कलावती बोली—"हाँ, कहो।"

अब तक काशीबाबू चुपचाप बैठे थे। सलाद की तश्तरी में रक्खी हुई हरी ततैया मिर्च की नोक को दाँत मे खोंटते हुए बोले—"खाने के समय विवाद की बातें नहीं किया करते।"

कलावती ने उत्तर दिया—"मेरा ख्याल ऐसा नहीं है। तुम कहो कुन्दन बेटा। बच्चों के बीच में बैठकर हँसने-बोलने में जिनको संकोच होता है उनको सद्गृहस्थ नहीं, बाल ब्रह्मचारी रहना चाहिये।"

काशीबाबू हँस पड़े—"और कुन्दन बेटा, तुम यही कहोगे न कि फिर मेरे विवाह पर आपने अपनी बिटिया के साथ उपेन्द्र को भेजने की तकलीफ क्यों की थी ?"

कुन्दनबाबू ने उत्तर दिया—"बाबू, आपने तो मेरी बात छीन ली।"

काशीबाबू बोले—"हम सब लोग भविष्य की कल्पनाएँ तब करते हैं जब अतीत का औचित्य हमारे हाथ से निकल जाता है। कल जो बात हमारे लिए सामान्यरूप से केवल एक प्रथा-पालन का मूल्य रखती थी, क्या आज वही बात जीवन को अधिक सुखी बनाने के लिए बदली नहीं जा सकती ? आदि मानव से लेकर आज तक मानवीय सभ्यता में जो अभिवृद्धि हुई है उसके इतिहास को ध्यान से देखो तो तुम्हें मालूम होगा कि मनुष्य के क्षण-क्षण बदलते हुए विचारों ने जीवन को बड़े-बड़े मोड़ दिये हैं और मनुष्य-जाति को पहले से कहीं अधिक सुखी और व्यवस्थित बनाया है। कान्ति के विवाह में तुम देखोगे कि मुझे भी अपनी ऐसी रीति-नीतियों को बदलना पड़ेगा।"

पिता की बात सुनकर कान्ति संकुचित हो उठी और कलावती की ओर देखती हुई बोल उठी—"अम्मा, अब मैं जाऊँ ?"

कुन्दनबाबू विचार में पड़ गये । कुछ कहा तो नहीं उन्होंने किन्तु वे सोचने लगे, सचमुच यह प्रसंग हमको यहाँ छेड़ना नहीं चाहिये था ।

इसी समय काशीबाबू बोल उठे—"हम क्षण-क्षण अपने को बदलते रहते हैं । पहले जो नीति और रीति हम स्थिर करते हैं, हमारी संतान के लिए जब वे रूढ़ि बन जाते हैं, तब हमारे आगे आनेवाले बच्चे विचारक और व्यवस्थापक होने के नाते उनमें उलट-फेर किये बिना नहीं मानते । एक प्रथा टूटती है, दूसरी जन्म लेती है । मैं कभी-कभी उस दिन का सपना देखता हूँ जब हमारे बच्चे इतने समर्थ हो जायेंगे कि मन मारकर रहना उन्हें कभी स्वीकार न होगा ।"

कुन्दनबाबू ने इसी समय कहा—"ऐसा भी तो हो सकता है कि लड़की अपने स्वामी के कष्ट की बात कहकर पिता-माता को लिखदे कि इतनी जल्दी मेरा लौटना सम्भव नहीं है ।"

अब तक उपेन्द्र चुप था । वह सोच रहा था कि बाबू का हृदय कितना विशाल है और उनके चिन्तन की प्रतिक्रिया कितनी वैज्ञानिक ! श्यामबिहारी की चुनौती पर जब मैं ध्यान से सोचता हूँ तब इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि बाबू ने मंजू की विदा न रोककर मेरे साथ अन्याय नहीं, उसी कर्त्तव्य का पालन किया है जिसमें पुत्रस्नेह की पावन ममता का एक उपयुक्त समीकरण है । फिर इस संदर्भ का पक एक्ष यह भी तो हो सकता है कि वे अपनी पुत्रवधू में भी आंशिक रूप से बेटी का रूप भी देखते हों और शायद इसीलिए महाबीरबाबू का अनुरोध न टाल सके हों ।

इस वार्तालाप के साथ सबने प्रेमपूर्वक भोजन किया । भोजनोपरान्त जब उपेन्द्र गिलास उठाकर पानी पीने लगा, तब घूम-फिरकर वही बात फिर उसके सामने आदर्श वाक्य के रूप में आ खड़ी हुई—कुछ भी हो, मेरा सिद्धान्त अपनी जगह अडिग और स्थिर है । उसके प्रतिपादन में मुझसे भूल भले ही हो गयी हो ।

आचमन करने के बाद उस दिन के समाचार-पत्र को उठाकर उसने जो देखा तो गांधी जी का एक वाक्य पढ़कर फिर चिन्तन में लीन हो गया । वह वाक्य था—दूसरों का डाला हुआ अंकुश सदा अपना विरोध ही नहीं, अपने को गिराने वाला अपदस्थ करने वाला लगता है और अपना बनाया हुआ अंकुश ऊपर उठाने वाला, उत्थान की प्रेरणा देने वाला ।'

तत्काल उसने सोचा—'अपने और पराये के इस अन्तर को जो ध्यान से नहीं देखता वह अन्तश्चेतना को कभी पकड़ नहीं सकता, ग्रहण नहीं कर सकता।'

इतने में सुरेन्द्र स्टेशन से वापस आगया।

कलावती ने पूछा—"सब लोग चले गये ? सबको ठीक से बैठा दिया ? सबका सामान ठीक तरह से रखवा दिया था ?"

सुरेन्द्र ने उत्तर दिया—"अम्मा, और तो सब ठीक हुआ लेकिन फूफाजी बड़े असंतुष्ट होकर गये।"

"क्यों, कुछ कहते थे क्या ?"

सुरेन्द्र बोला—"कहते थे, इस विवाह में मुझे कुछ विशेष प्राप्ति नहीं हुई। और अन्त में यह भी उन्होंने कह दिया कि इस घर से रिश्ता तो बस बाबू के दम तक है। उसके बाद कोई टके को न पूछेगा। दक्षिणा तो दूर रही ठीक तरह से स्वागत-सत्कार भी न होगा।"

कलावती बोली—"अच्छा-अच्छा, जल्दी से आकर खाना खा ले और देख बाबू से कुछ मत कहना।"

शाम हो चुकी थी और तब तक किसी पत्र के आने का समाचार मंजु को नहीं मिला था। एकाएक उसके मन में आया कि चलो यह दिन भी गया। आज भी उनका कोई पत्र नहीं आया। चलते-चलते कितने मन से मैंने उनसे यह प्रार्थना की थी। मगर ऐसा हो नहीं सकता कि मेरा कहना खाली चला जाय। आज नहीं तो कल पत्र जरूर आयगा।...यह पत्र बहुत अच्छा निकलता है; क्योंकि इसमें लिखा है कि प्रेम ईश्वरीय सौन्दर्य्य की भूख है।...ग्राम का जीवन यों तो बहुत प्यारा लगता है, लेकिन स्वभाव और शील की दरिद्रता बड़ी प्राणघातक लगती है। गरीबी में और कोई गुण चाहे न हो, पर वह ईश्वर को अपने निकट अवश्य रखती है।...जाकर जेहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलै...मिलै, फिर मिलै—न कछु सन्देहू !

और फिर चौपाई के भीतरवाले जुड़े हुए शब्दों पर मंजु को स्वयं हँसी आ गई। इतने में महाबीरबाबू ने अन्दर आकर पूछा—"मंजु कहाँ गई है ?"

मंजु की माँ ने उत्तर दिया—"अभी तो यहीं थी, ऊपर होगी।"

"उसकी एक चिट्ठी आई है।"

माँ ने आश्चर्य से कह दिया—मंजु की चिट्ठी ! मंजु को चिट्ठी भला कौन लिखेगा ?"

महाबीरबाबू ने हँसते हुए कह दिया—"क्यों ? क्या उसको चिट्ठी लिखने वाला मिल नहीं गया। तुम भी क्या बात करती हो मंजु की माँ।"

और कथन के साथ उन्होंने पहले चाहा, वह पत्र उसी को दे दें; फिर कुछ सोचकर उन्होंने पुकारा—"मंजु, मंजु !"

मंजु ने छत से उत्तर दिया—"आई बाबू।"

अब तक उसको यह मालूम हो चुका था कि कोई पत्र आया है और पत्र किसका हो सकता है इतना वह जानती थी। जो प्रसन्नता उसे हो रही थी उसका संतुलन वह कर नहीं पा रही थी। जब उसने देखा कि कहीं मेरी प्रसन्नता प्रकट न हो जाय, तब विवश होकर उसने अपने दोनों अधर मिला लिये और सिर नीचा कर लिया।

महाबीरबाबू ने उसके हाथ में पत्र दे दिया। मंजु उसे लेकर उछलती हुई ऊपर चली गई।

महाबीरबाबू ने एक बार अपनी पत्नी की ओर देखा फिर, बिना कुछ कहे वे बाहर चले गये।

५

समय की गति सदा एक-सी नहीं रहती, हृदय की गति भी अपने ढंग से, अपने नियम से चलती हुई भी मनोमंथन के प्रकार बदलती रहती है। पानी उतार और ढलान पाकर मोड़ लेता हुआ सीधी गति से न बहकर टेढ़े-मेढ़े मार्गों से आगे बढ़ता रहता है। वायु कभी पश्चिम की ओर गतिशील रहती है, तो कभी पूर्व की ओर।

यहाँ तक कि दिनमान भी कभी घटते हैं, कभी बढ़ते हैं। तारागण चलते हैं। पर्वतों की चोटियाँ जब गिर पड़ती हैं तब कहा जाता है कि पर्वत-पुरुष ने आज अपने ह्रास की प्रक्रिया प्रदर्शित की है। सूर्य का उदय और अस्त सदा एक ही समय पर नहीं होता। चन्द्रमा की गति तो एक पक्ष में ही उलटी हो जाती है। इस प्रकार ध्यान से देखो तो सारा विश्व ही अस्थिर, परिवर्तनमय और विकासशील है।

काशीबाबू का पारिवारिक जीवन फिर पूर्ववत् चलने लगा था। नौ बजते-बजते वे चौक के पोस्टआफिस को चल देते और पाँच बजते-बजते अपने घर वापस आ जाते थे।

उपेन्द्र कहाँ जाता है, कहाँ उसकी बैठक-उठक है, उसका शिक्षा-क्रम किस ढंग से चल रहा है, आदि बातों का सम्यक् ज्ञान रखते हुए भी काशीबाबू उपेन्द्र से कभी कुछ कहते न थे। खाना खाने के लिए जब कलावती उन्हें बुलाती तो वे इतना ही पूछ लेते कि उपेन्द्र खाना खा चुका ? और रात्रि में जब चारपाई पर कदम रखते, उसके पूर्व, नित्य नहीं, दूसरे-चौथे दिन उपेन्द्र से भी इतना पूछ लेते कि तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है ? कभी-कभी ऐसा भी होता कि उपेन्द्र जब सामने आजाता तब प्रश्न कर बैठते—"आज-कल सवेरे के बजे पढ़ना शुरू कर देते हो ?" उपेन्द्र उत्तर देता—"जिस दिन जल्दी सो जाता हूं उसी दिन चार बजे उठ पाता हूं।" इसके उत्तर में काशीबाबू केवल इतना कह देते—"चार बजे उठनेवाले को तो नौ बजे चारपाई पर चला ही जाना चाहिये।"

उनके इस कथन में सामान्य रूप से केवल एक आग्रह होता। आदेशात्मक पद्धति अब उन्होंने बदल दी थी। एकआध बार ऐसा भी हुआ कि उन्होंने देखा, उपेन्द्र अभी तक पढ़ रहा है, जबकि बारह बज गये हैं। उनके मन में आता कि वे झट से उसके पास जाकर कह दें, अब पढ़ना बन्द करो बेटे ; लेकिन जान-बूझकर वे ऐसा न करते। वे सोचते, अब इसको अपने ढंग से चलने देना चाहिये, हस्तक्षेप करना मेरा अभीष्ट नहीं। कभी यदि रात को उसके लौटने में देर हो जाती, तो काशीबाबू यह न कहते कि आज बड़ी देर कर दी। कहाँ रहे इतनी देर तक ? वरन् कहते यह कि आज कौन-सी पिक्चर देखने गये थे ? उपेन्द्र भी स्पष्ट ही बतला देता। पहले तो उसको आश्चर्य होता, फिर संकोच का भाव उदय होता,

फिर अपने भीतर से साहस बटोरकर जब मुँह खोलने को उद्यत होता तब भी मित्रों की आड़ लेकर इतना ही कह देता—"श्यामविहारी ने जब मुझसे बहुत कहा कि आज तो चलना ही पड़ेगा, तब मैं उसके आग्रह को टाल न सका।"

पिता के इस व्यवहार से उपेन्द्र के मन में एक ऊहापोह उत्पन्न होने लगा--क्या यह समस्या कभी सुलझ नहीं सकती ? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि बाबू मुझपर पूरा विश्वास करें, वे यह कभी न पूछें कि मैं कहाँ और किस लिए गया था। मैं अब बीस वर्ष का होने आया। क्या अपना इतना भी हित-अहित नहीं समझ सकता कि मुझे कहाँ जाना चाहिये और कहाँ बैठना चाहिये। बाबू के इन प्रश्नों में मुझको संरक्षण और प्यार के बदले नियंत्रण और अधिकार की गंध आती है। एकाध बार तो उसके मन में आया भी कि ऐसे अवसरों पर मैं साफ-साफ क्यों न कह दूं कि अब मुझको आप मेरी रुचियों पर छोड़ दीजिये। समझ लीजिये कि या तो मैं आपके रास्ते पर ही सदा चलूंगा या फिर नया रास्ता स्वयं खोज लूंगा। आपको इस विषय में चिंता करने की आवश्यकता बिलकुल नहीं है।

अब परीक्षाओं के दिन थे। और उपेन्द्र इधर ग्यारह बजे तक पढ़ता, उधर घड़ी में अलार्म देकर तीन बजे उठ जाता।

.एक दिन कहीं कलावती ने काशीबाबू से कह दिया—"तुम देख नहीं रहे हो उपेन्द्र रात-रातभर पढ़ता रहता है ? मुझे डर लगता है कि कहीं वह बीमार न पड़ जाय।'

प्रातःकाल अभी हुआ ही था। काशीबाबू बबूल की दातुन लिये दाँत साफ कर रहे थे। पत्नी की बात सुनकर उन्होंने उत्तर दिया—"यह बात तो मेरे कहने की नहीं है; क्योंकि हो सकता है कि वह यही उत्तर दे बैठे कि यह मेरे भविष्य के निर्माण का प्रश्न है। इस विषय में किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।"

उपेन्द्र की पढ़ाई का यह कार्यक्रम पूर्ववत् चलता रहा। परिणाम यह हुआ कि अंतिम प्रश्न-पत्र की उत्तर-पुस्तक पूरी करते-करते परीक्षा-भवन में ही वह अचेत हो गया! पहले तो श्यामबिहारी वहीं डाक्टर को लिवा लाया, फिर एक इन्जेक्शन और मिक्स्चर की पहली खुराक दिलवाकर वह उसे ताँगे पर बैठाकर घर

ले आया। रास्ते में श्यामबिहारी के साथ कइ बातें हुईं। श्यामबिहारी बोला—"मैंने जो आशंका प्रकट की थी, वह अगर सही नहीं निकली, तो ग़लत भी नहीं निकली। फेल तो तुम नहीं होगे, लेकिन डिवीजन तुम्हारा संशयास्पद है। कोई कह नहीं सकता, क्या फल होगा ? लेकिन अगर तुमको प्रथम श्रेणी मिल भी गई तो उसका श्रेय तुम्हारी मेहनत को नहीं, मेरी दी हुई चुनौती को होगा।"

उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"दुनिया में ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो अपने को सबसे अधिक बुद्धिमान् मानते हैं। लेकिन स्वयं मानना एक बात होती है और समाज तथा जनता से कहलवा लेना दूसरी बात। तुम्हारी चुनौती का कोई महत्त्व न होता, अगर मैं उस पर ध्यान न देता। इसके अतिरिक्त और भी एक बात है—विजय का अधिकारी वही व्यक्ति होता है जो इष्ट-सिद्धि के लिए अपने प्राण तक होम देता है। साधारण रूप से अस्वस्थ हो जाने का मैं कोई महत्त्व नहीं मानता। समझे श्रीमान् !"

श्यामबिहारी हँस पड़ा और बोला—"कुछ समझा और कुछ नहीं समझा।"

तब उपेन्द्र ने एक इलायची श्यामबिहारी की ओर बढ़ाते हुए कह दिया—"तो फिर इतना और जान लो कि विजय उसकी होती है, जिसका हृदय स्वच्छ-निर्मल, निष्कपट और वाह्य-द्वय शिला-खंड के समान दृढ़ होता है।"

श्यामबिहारी थोड़ी देर चुप रहा। उसने सोचा, 'ऐसी अस्वस्थ अवस्था में इसके हृदय को उत्तेजित करना उचित नहीं है।'

घर पहुँचते-पहुँचते उसने इतना और कहा—"तुम आदमी तो वास्तव में वीर हो; लेकिन एक नम्बर के जिद्दी, अहंकारी और थोड़े-बहुत सनकी अवश्य हो।"

उपेन्द्र हँस पड़ा और साथ ही उसने कह दिया—"कुछ परवाह नहीं; क्योंकि हर बड़ा आदमी सनकी होता है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि हर सनकी व्यक्ति महापुरुष होता है।"

उपेन्द्र जब इस अस्वस्थ स्थिति में घर लौटा और श्यामबिहारी ने कलावती को सारा हाल बतलाया, तब काशीबाबू नहीं आये थे। लेकिन सुरेन्द्र घर ही में था। पहले तो कलावती को यह जानने में ही दस-पाँच मिनट लग गये कि वह अचेत हो क्यों गया !

श्यामबिहारी ने जब उसे समझाया कि अतिशय जागरण और अध्ययन

के अटूट श्रम से कभी-कभी ऐसा हो जाता है और विशेष रूप से तब, जब खाने को घी-दूध और फल अपेक्षित मात्रा से कम मिलते हैं। उस समय खुर्जा का घी छह आने सेर और दूध डेढ़ आने सेर मिलता था। कलावती बोली—"घी-दूध का प्रबन्ध तो है। अब और अधिक आजाया करेगा।" फिर प्रश्न उठा कि किस डाक्टर को बुलाया जाय? श्यामविहारी ने सारी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—"चिकित्सा का उचित और पूरा प्रबन्ध करने के बाद ही उपेन्द्र को यहाँ ले आना मैंने उचित समझा। इसलिए दवा भी हम साथ ले आये हैं। वैसे हमारे डॉक्टर हैं श्री अरुणेश निगम।

कलावती ने पूछा—"और फीस-वीस?"

श्यामबिहारी ने उत्तर दिया—"उसका भुगतान भी हो गया है। आप उसकी चिन्ता न करें चाची।"

कलावती का समाधान अब भी हुआ नहीं था। उसने पूछा कि पैसे किसने दिये? उपेन्द्र के पास इतने पैसे थे नहीं कि फीस भी दे दी जाय और दवा के दाम भी दे दिये जायं।

श्यामबिहारी ने उत्तर दिया—"उपेन्द्र के पास नहीं थे तो मेरे पास तो थे।"

चार-छह दिन में जब उपेन्द्र स्वस्थ चित्त हुआ, तबतक वह भली-भाँति समझ चुका था कि कार्य कोई भी हो, अति का परिणाम कभी श्रेयस्कर नहीं होता।

इसका कारण था। जिन डॉक्टर निगम की चिकित्सा से उसे लाभ हुआ था, वे शिक्षा देने के सम्बन्ध में अपनी एक विशेष शैली रखते थे। औषधोपचार के बाद दूसरे ही दिन उन्होंने कहा था कि अति खाना और श्मशान जाना—एक मराठी कहावत है। तुमने जागरण बहुत किया है, यह उसी का परिणाम है। जब कभी और जिस दिशा में भी तुम अति करोगे, उसका दुःखद परिणाम अवश्य होगा—और वह तुम्हें भोगना भी पड़ेगा। सभी प्रकार के भोगों का अन्त दुःख में होता है। एक योगी ही संसार के बन्धनों में नहीं पड़ता, भले ही उसे संसार के बन्धनों का दुःख भोगना पड़ जाय, जो प्राणि-मात्र के लिए अनिवार्य होता है।

उपेन्द्र सोचने लगा, 'सचमुच डॉक्टर साहब का कहना सही है।' वास्तव में

इसी बात का प्रसंग अति जागरण से उठा था। किन्तु इस विचार को वह सम्पूर्ण जीवन में चरितार्थ देखने लगा। अपने अधिकार को लेकर वह पिताजी से विग्रह कर बैठा, माताजी से जान-बूझकर बहस की और जीजाजी की तो बोलती बन्द कर दी। एक ओर तो उसे एक विशिष्ट प्रकार के गौरव का अनुभव हो रहा था, किन्तु आत्मनिरीक्षण के सन्मार्ग पर आकर कभी-कभी यह भी सोचने लगता था कि कुछ भी हो, यह तो मैंने सिद्ध करके दिखा ही दिया कि अभीष्ट-सिद्धि के लिए मैं कहाँ तक उत्सर्ग कर सकता हूँ।

इस आत्म-चिन्तन ने उसको पौष्टिक भोजन की ओर और भी सतर्क और सजग बना दिया।

श्यामबिहारी ने कहीं एक दिन कह दिया था कि अगर तुमको रात को दूध और दाल में अधिक घी मिलता होता तो तुम्हारी शारीरिक निर्बलता इस सीमा तक न बढ़ जाती। परिणाम यह हुआ कि भोजन के समय वह दाल में अधिक घी डालने का आग्रह करने लगा। उस समय लीची आने लगी थी, जो सामान्य रूप से दो-ढाई आने सेर मिल जाती थी। उपेन्द्र लीची खाते समय मुस्कराता हुआ सोचता था कि कोई-कोई दुर्घटना अपने पीछे कितना सौख्य लेकर चलती है!

स्वास्थ्य की इस संयोजना में उसको कभी-कभी मंजु की भी याद आती। परन्तु यही सोच कर वह चुप रह जाता कि अपनी ओर से कुछ कहना अभी ठीक न होगा। यद्यपि अपने परीक्षाफल के विषय में उसे उत्सुकता बहुत थी, पर वह सोचता था कि यदि मंजु मेरे जीवन में न आती, तो बात दूसरी थी। तब मेरी प्रथम श्रेणी कोई रोक नहीं सकता था।

उधर कलावती और काशीबाबू में कभी-कभी इसी विषय को लेकर विचार-विनिमय होता। एक दिन कहीं कलावती ने काशीबाबू को दूध का गिलास देते समय कहा—"क्या अब उपेन्द्र को ससुराल भेज देना उचित न होगा?" काशीबाबू ने उत्तर दिया—"नहीं, ऐसी लू-लपट में कहीं भेजना मैं उचित नहीं समझता।"

ज्येष्ठ मास में पाँच बजे प्रातःकाल यथेष्ट उजाला हो जाता है। एक दिन काशीबाबू दिनचर्या की संयोजना के विषय में बात कर रहे थे। उपेन्द्र को सुनाकर वे बोले—"जब से मैं प्रातःकाल चार बजे उठकर गंगा स्नान को जाने लगा

हूँ, तब से मेरा स्वास्थ्य कुछ अच्छा दिखाई देने लगा है। एक तो तीन मील पैदल चलकर जब मैं सरसैया घाट पर पहुँचता हूँ, तब थोड़ी-बहुत थकान भी आ जाती है। पन्द्रह-बीस मिनट घाट के तखत पर बैठकर भगवान् की लीलाओं का चिन्तन करता हूँ, उसके बाद आधा घंटा स्नान में भी व्यतीत करता हूँ। मेरा तो अब धीरे-धीरे विश्वास हो गया है कि स्वतन्त्र घूमना, बिना माँगे भोजन मिल जाना, सत्पुरुषों की संगति, शान्तिदायी शास्त्रों का चिन्तन, स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन बड़े भाग्य से मिलता है। पर नियोजन की बाहरी वस्तुओं से वितृष्णा बिना यह सम्भव नहीं है। नियोजन के सम्बन्ध में जो व्यक्ति सदा उदासीन बना रहता है, उसके मनोरथ स्वप्न-राज्य के समान होते हैं। लेकिन मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि उपेन्द्र ने विवाह के बाद पढ़ने में मन बहुत लगाया—जो बहुधा कम देखा जाता है।"

प्रशंसा चाहे थोड़ी भी हो, मन को उल्लास से भर देती है। इसके सिवा वह हमारे जीवन की बहुतेरी हीनताओं को शान्त करने में भी एक सीमा तक बहुत समर्थ होती है। पर उपेन्द्र सोचा करता कि संसार की रचना कितनी विचित्र है, बिना प्रशंसा किसी को प्रसन्न नहीं किया जा सकता और बिना झूठ बोले किसी की प्रशंसा हो नहीं सकती।

बहुत दिनों के बाद आज पिता के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर उपेन्द्र विचार-मग्न हो उठा। एक बार तो यह भी उसके मन में आया कि ऐसा कुछ नहीं है कि बाबू मुझे चाहते न हों। तब उसी क्षण उसने कहा—"बाबू, कल से मैं भी तुम्हारे साथ गंगास्नान को जाया करूँगा।"

लेकिन पग-पग पर उपेन्द्र प्रतिक्रियाओं से खेलने लगता था। पिता के साथ दो दिन गंगास्नान करने के अनन्तर उसने अनुभव किया कि वयोवृद्धजनों के साथ रहने से स्वतन्त्रता बौनी हो जाती है। दिल खोलकर बातें करनेवाला अपना अंतरंग साथी जबतक समीप न हो, घूमने-फिरने में क्या आनन्द मिल सकता है? फलतः तीसरे दिन उसन कह दिया—"बाबू, मैं गंगास्नान को जाऊँगा जरूर, मगर श्यामबिहारी के साथ।"

दिन जाते देर नहीं लगती। काल के चरण जब आगे बढ़ते हैं तब उनकी चाल

पवन की हो जाती है। वर्षा की पहली बौछारें आई ही थीं कि उपेन्द्र का परीक्षाफल प्रकाशित हो गया। बड़ी लालसा से उसने दैनिक पत्र का वह पृष्ठ उलटा, जिसमें वह प्रकाशित हुआ था। दो मिनट में ही द्वितीय श्रेणी में उसको अपना नाम दिखाई पड़ गया। उसे एक आघात तो अवश्य लगा किन्तु उसे ऐक पाठ भी मिल गया। प्रमाद में पड़कर अगर मैंने विग्रह न उत्पन्न किया होता तो मेरे मन को अधिक शान्ति मिलती। मन को अधिक शांति मिलती तो अध्ययन में एकाग्रता का अवलम्ब भी मुझे अधिक मिलता। शेक्सपीयर ने भी तो कहा है—"संसार की सारी शान, ऐश्वर्य और वैभव के कारण है, पर आत्मशान्ति का ऐश्वर्य उससे कहीं बढ़कर है। आनन्द और सौख्य के राज्य में असंयम और उच्छृंखलता पनपती है, मगर शान्ति मुस्कराती और झूमती हुई हंस-गति से चला करती है।"

आज उपेन्द्र पछताने लगा—'मैंने बहुत बुरा किया, जो उस समय शान्ति-रूपी औषध का प्रयोग नहीं किया। वास्तव में सच पूछा जाय तो शान्ति सुख का सबसे उत्कृष्ट रूप है। किन्तु...।

'इस सारे विवेचन के साथ एक बहुत बड़ा 'किन्तु' लगा हुआ है। महत्त्वाकाँक्षा रखने वाला व्यक्ति सदा शान्त रह ही कैसे सकता है! सतत आगे बढ़ते जाने की महत्त्वाकांक्षा जिसके प्राणों को पोषण देती है; शान्ति उसे मिल नहीं सकती और शान्त वह रह भी नहीं सकता।

'अपने अधिकारों की स्थापना के लिए मैं शान्ति की कभी परवाह न करूँगा। हाँ, इस बात का ध्यान अवश्य रखूंगा कि ऐसी कोई अशान्ति मैं न मोल ले बैठूं, जिससे गत्यवरोध पैदा हो जाय। तब इस मनोमंथन का निष्कर्ष यह निकलता है कि हम अधिकारों के लिए तो लड़ेंगे किन्तु न शान्ति की परवाह करेंगे, न निरी अशान्ति की। संतुलन तो रखना ही पड़ेगा।'

परीक्षाफल प्रकाशित हो जाने के अनन्तर काशीबाबू ने उपेन्द्र को बुलाकर केवल इतना कहा—"ठीक याद नहीं किसने कहा है लेकिन एक विज्ञ का कहना तुम्हारे लिए मेरे विचार में बड़ा ही उपयोगी होगा।"

जिस भाँति ऊपर से आता हुआ गद दोनों हाथ उठाकर गपक लिया जाय उसी भाँति झट से उपेन्द्र ने पूछा—"बाबू, क्या कहा है उसने?"

काशीबाबू ने उत्तर दिया—"उसका कहना है कि अगर कोई व्यक्ति इस बात के शोध में लग जाय कि महानता वास्तव में है क्या, तो उसको चाहिए कि वह महानता के काल्पनिक आडम्बर को तो भूल जाय, किन्तु जीवन के सत्य को पहचानने की चेष्टा करे और फिर अपने जीवन में उसे धीरे-धीरे चरितार्थ करता चले तो अंत में उसे दोनों वस्तुएँ मिल जायँगी।"

कदाचित् यह प्रसंग अभी और चलता किन्तु इसी समय पोस्टमैन ने आकर काशीबाबू को एक पत्र दे दिया।

कलावती ने मुस्कराते हुए पूछा—"किसका पत्र है?"

काशीबाबू ने नाक पर चश्मा चढ़ाते हुए, उसे क्षण-भर देखा और कह दिया—"समधी साहब का। उन्होंने लिखा है कि घर में हमसे कहा गया है कि हमारे बाग के आम पक गए हैं। ऐसे समय अगर आप अपने चिरंजीव उपेन्द्र को सप्ताह-भर के लिए हमारे यहाँ भेज दें तो हम सबको बड़ा सुख मिलेगा। दो-चार दिन में देखता हूँ अगर कोई शहर गया तो एक झौआ-भर आम उसके हाथ भेजने की चेष्टा करूँगा।"

पत्र की भाषा और उसका आशय हृदयंगम करके कलावती ने कह दिया—"हाँ-हाँ ठीक तो है। मेरे मन में भी ऐसा कुछ विचार उठ रहा था और अब तो समधीजी स्वयं ही उसे बुला रहे हैं।"

दूसरे दिन उपेन्द्र ससुराल जाने को तैयार हो गया।

श्यामबिहारी और उपेन्द्र में बड़ी आत्मीयता थी। नित्य दोनों एक साथ बैठकर जबतक घंटे-दो-घंटे वार्ता-विनोद में न लगा देते तबतक किसी को चैन न मिलता। यद्यपि दोनों की रुचियों में बड़ा अन्तर था। उन दिनों स्वदेशी वस्त्र उत्तम श्रेणी के बनने लगे थे, किन्तु उपेन्द्र सदा विदेशी वस्त्र ही पहनता। श्यामबिहारी सदा उसको छेड़ता रहता—"देश-भक्ति का भाव तो तुमको छू नहीं गया है। सच पूछो तो ऐसे लोगों के पास बैठने में मुझे संकोच होता है। मुझे उनके कपड़ों में देश के प्रति विश्वासघात की बू आती है। उनकी मुखाकृतियों में देश के गौरव के प्रति विरक्ति और घृणा का भाव देखकर कभी-कभी मैं सोचता हूँ—यह विषधर कहीं मुझे काट न खाय।" वह कहा करता, "हमारे

देश में विषधरों की एक जाति है—एक ऐसी जाति जो सदा देश का अहित ही सोचा करती है। उनको गाँधीजी की महान् आत्मा पर विश्वास नहीं है। उनको पंडित जवाहरलाल नेहरू के त्याग, उनकी प्रभविष्णुता, मानवता के पावन पुजारी होने की भावना और उनके शौर्य पर भी विश्वास नहीं।"

उपेन्द्र श्यामविहारी के इन विचारों को सुनकर हँस देता। उसका कहना था कि मैं वेश-भूषा को देश-भक्ति का अंग नहीं मानता। नेताओं की आरती उतारने पर भी मेरी आस्था नहीं। केवल पुरुषार्थ की महानता मुझे स्वीकार है। स्वाधीनता-प्राप्ति के संग्राम में सीने पर गोली खाकर मर जाना तो मैं वीरता का चिन्ह मानता हूँ, किन्तु जन-सेवा और जन-जाग्रति के नाम पर इकट्ठे किये हुए चन्दे को उड़ा डालने वाले वर्ग को मैं देश-भक्त नहीं मानता। मुझे खादी पसन्द नहीं है। इसीलिए मैं स्वदेशी वस्त्र पहनना स्वीकार कर लेता हूँ। विदेशी से मुझे घृणा नहीं, इसीलिए उसका बहिष्कार भी मैं नहीं कर सकता।

खान-पान में भी दोनों की रुचियों में बड़ा अन्तर था। श्यामविहारी को आलू से बड़ी प्रीति थी। थाली में अगर आलू का साग न हुआ तो कुछ न हुआ। उपेन्द्र को करेला, परवल और कुन्दरु की कलौंजी बहुत पसंद आती। दोनों के अभाव में वह भिण्डी से संतोष कर लेता, लेकिन आलू वह तभी तक खाता था जबतक वह महँगा रहता था। श्यामबिहारी को कद्दू और आलू मिलाकर खाने में कोई आपत्ति न रहती और जब तक कद्दू हरा रहता, वह बड़े चाव से खाता। उपेन्द्र को दोनों से बड़ी चिढ़ थी। दोनों साइकिल पर चढ़ते तो श्यामबिहारी साइकिल धीरे-धीरे चलाता और सदा बचकर निकलने की चेष्टा करता; किन्तु उपेन्द्र साइकिल प्रायः एक हाथ से चलाता। पर जब कभी सामने दूर तक सड़क खाली मिल जाती तो वह हैण्डिल से दोनों हाथ खींच लेता।

वार्षिक परीक्षाओं में उत्तर-पुस्तकों पर जो अंक उसे मिलते, उनके सम्बन्ध में जब बहस चलती और यदि कभी किसी प्रश्न-पत्र में श्यामबिहारी को अंक अधिक मिल जाते तो वह कई दिनों तक इस अनुसंधान में लगा रहता कि श्याम-बिहारी ने परीक्षक के पास सीधे अथवा प्रकारान्तर से कोई अनुशंसा तो नहीं

पहुँचाई है ? अगर कभी इतना ही मालूम हो जाता कि वह उसका सजातीय है, तो वह इतना कहे बिना न मानता कि पैर छू-छूकर नम्बर बढ़वा लेने की अपेक्षा साधारण श्रेणी में उत्तीर्ण होने में मैं अधिक गौरव देखता हूँ।

श्यामबिहारी उपेन्द्र के इस कथन का बुरा न मान कर केवल इतना ही कह देता कि तुमको किसी ने मना किया है ? और इष्टसिद्धि को सामर्थ्य से परे देखकर यह कह देना तो बड़ा आसान है कि अंगूर खट्टे हैं।

इसके विपरीत, जब कभी उपेन्द्र को अधिक नम्बर मिल जाते तो श्यामबिहारी उसकी प्रशंसा करने में कोई कमी न रखता। वह सदा यही कहता कि अध्यवसाय और परिश्रम से ही प्रतिभा में निखार आता है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि महत्त्व और गौरव के प्रति जब तुम्हारी लालसा इतनी गहनतम है, तब तो तुमको आई० सी० एस० होना ही चाहिये।

खिलाने-पिलाने के मामले में उपेन्द्र कुछ कँजूस भी था। प्रसन्नता के किसी अवसर पर जब श्यामबिहारी कहता कि इसी बात पर कुछ खिलाओगे नहीं दोस्त ? तो उपेन्द्र उत्तर देता—"ऐसे बेवकूफ भोगाँव में रहते हैं !" पर श्यामबिहारी उत्तर देने में कम न था, इसलिए वह भी तुरन्त कह देता, "लेकिन तुम्हें मालूम होना चाहिए सबसे भयंकर झूठ वह नहीं है, जो तुम बोलते हो; वरन् वह है, जो तुम करते हो ! इसलिए तुम्हारे इस उत्तर पर मैं विश्वास नहीं करता।'

श्यामबिहारी उसकी इस प्रकृति से अवगत था इसलिए वह ऐसा प्रस्ताव बहुत कम करता था।

ऐसे उत्तरों पर उपेन्द्र हँस देता और फिर तुरन्त उसे मिठाई खिलाने पर तुल जाता।

उस दिन जब श्यामबिहारी परीक्षाफल प्रकाशित होने पर उसी श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ जिसमें उपेन्द्र, तब उसे अत्यधिक प्रसन्नता हुई, बल्कि मिलने पर उसने कह भी डाला कि तुम मानो चाहे न मानो, लेकिन तुम सोचते यही रहे होगे कि तुम इस बार तो मुझे मात देकर मानोगे, लेकिन फल क्या हुआ, यह तुम्हारे सामने है।

उपेन्द्र ने उसकी इस बात का तुरन्त कोई उत्तर तो न दिया, पर वह सोचता यही रहा कि हम वास्तव में किसी और से धोखा नहीं खाते, धोखा तो हम स्वयं

६

उपेन्द्र जब ससुराल चला गया तब श्यामबिहारी ने उसको एक पत्र लिखा:

प्रिय उपेन्द्र,

मैंने तुमसे कहा नहीं, केवल यह सोचकर कि तुम कहीं बुरा न मान जाओ। लेकिन केवल मित्रता के नाम पर मैंने तुमसे आगे बढ़ने की चेष्टा नहीं की। मैं जानता हूँ, तुम इस बात पर विश्वास नहीं करोगे। विश्वास वह करता है जो आस्थावादी होता है और आस्थावादी का कलेजा पचास हाथ का होता है। तुम बौद्धिक हो और भाई मैं तो भावनावादी हूँ। प्रेम का दूसरा अर्थ मैं त्याग मानता हूँ। मैं जानता था कि यदि मुझे प्रथम श्रेणी मिल गई और तुमको द्वितीय, तो परीक्षाफल का यह स्वरूप हम दोनों के मध्य में एक दीवार खड़ी कर देगा। इसलिए जो कुछ हुआ वह सब मिलाकर अच्छा ही हुआ, क्योंकि हमारी मित्रता के पक्ष में हुआ। तुम चाहे जो समझो, मुझे इसकी चिंता नहीं है।

इस पत्र के साथ मैं कुछ दैनिक-पत्रों की आवश्यकता के विज्ञापन सम्बन्धी कतरनें भेज रहा हूँ। मैं तो आवेदन-पत्र भेजूँगा ही, तुम भी भेजने में असावधानी न करना। और हाँ, यह मत सोचना कि जहाँ मैं आवेदन-पत्र भेज रहा हूँ, वहाँ तुम क्यों भेजो? स्पर्द्धा से बढ़कर मैं प्रगति का कोई मार्ग नहीं मानता। एक विचारक का कथन है; 'उन्नति तो वही करता है, जिसका हृदय संघर्ष की घड़ियों में वज्र, और स्पर्द्धा के समय जिसका रक्त गरम तथा मस्तिष्क तीव्र होता है।'

भाभी को मेरा नमस्कार।

तुम्हारा एक,
—श्यामबिहारी

आमोद-प्रमोद और जीवन-सौख्य के प्रीतिकर प्रसंगों के वातावरण में श्यामबिहारी के इस पत्र ने उपेन्द्र के मन में एक खलबली उत्पन्न कर दी। कई ऐसी बातें उसके मन में उठकर खड़ी हो गईं, जिनकी कल्पना पहले वह कभी नहीं करता था। 'हूँ-हूँ, ऐसा कभी होता है कि मित्रता और आत्मीयता के नाम पर कोई व्यक्ति अपने पैर काट डाले। ऐसा जान पड़ता है कि इसने जान-बूझकर मेरे साथ उपकार

किया हो, किन्तु उपकार ? मैं उपकार की सत्ता पर विश्वास नहीं करता। इस संसाररूपी भवन का निर्माण जिन दीवारों से हुआ है, उनकी ईंटें स्वार्थ से बनी हैं। उनके सीमेण्ट का दूसरा नाम स्वार्थ है। जीवन के इस क्षण-क्षण व्यापी रूप में समस्त गतिविधियों के क्रम में और समय-समय पर उठनेवाली मानसिक हिलोरों और तरंगों में स्वार्थ की ही मोह-माया परिव्याप्त रहती है। संसार का कोई व्यक्ति स्वार्थ से विमुख होकर रह नहीं सकता, ठहर नहीं सकता; यहाँ तक कि जी भी नहीं सकता।'

पहले तो उसके मन में आया कि वह श्यामबिहारी के इस पत्र को फाड़कर फेंक दें, किन्तु उसी समय मंजु ने आकर कहा—"तुमने सुना नहीं, अम्मा कब से तुम्हें चाय के लिए बुला रही हैं।"

विचारलीन, अहंकार, क्षोभ और ईर्ष्या के नाना रूपों से ओत-प्रोत उपेन्द्र चुपचाप सास की ओर चल दिया। वह सोच नहीं पा रहा था कि श्याम बिहारी ने यह पत्र किस अभिप्राय से उसके पास भेजा है। वह स्थिर नहीं कर पा रहा था कि उसको इस पत्र का क्या उत्तर दिया जाय।

एक बार उसने यह सोचा कि जिन-जिन आवश्यकताओं पर अपनी नियुक्ति के लिए इसने आवेदन-पत्र भेजे हैं, उन्हीं के सम्बन्ध में लार टपकाने और घिघियाने के लिए यह मुझसे अनुरोध कर रहा है। परीक्षाफल में तो यह मुझे मात दे नहीं सका, अब नियुक्ति के सम्बन्ध में अवसर पाकर यह मुझे नीचा दिखलाना चाहता है। ऐसी दशा में क्या यह उत्तम न होगा कि मैं भी नित्य संवाद-पत्रों के आवश्यकता सम्बन्धी स्तम्भ ध्यान से देखता रहूँ और उन्हीं आवश्यकताओं पर ध्यान दूँ और उन्हीं संयोजकों को अपना आवेदन पत्र भेजूँ, जिनका इसको, सम्भव है, पता तक न चला हो ?

वह चाय पीता जाता था और उसके एक-एक घूँट पर सोचता जाता था कि प्रत्येक उन्नतिशील व्यक्ति ईर्ष्यालु होता है। प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी प्रतिस्पर्धी के लिए छलछद्म का सहारा लेता है। विश्व के सारे कार्य-कलाप बौद्धिक प्रवृत्तियों की ही देन हैं। मैं इस श्यामबिहारी से लड़ूँगा और इसे नीचा दिखाकर ही मानूँगा। उसको पता नहीं कि मैं आई० सी० एस० के लिए कितनी तैयारी कर रहा हूँ।

मंजु की माँ प्रेमा ने इसी समय कह दिया—"बेटा, तुम इस समय उदास क्यों जान पड़ते हो ?"

उपेन्द्र ने मुस्कराने की चेष्टा करते हुए उत्तर दिया—"हम सब लोग चिन्तन की घड़ियों में उदास भले ही दिखाई पड़ें, पर हम वास्तव में भीतर से बहुत प्रसन्न और उल्लास से भरे-पूरे रहा करते हैं। माना कि हम बहुत कम हँसते हैं, पर हम प्रायः हँसते तब हैं जब दुनिया हमें गलत समझती है।"

देहाती वातावरण में पली हुई नारी दामाद के इस उत्तर को समझ नहीं पाई, किन्तु थोड़ी देर बाद जब उपेन्द्र ने मंजु से भेंट की तो उसने कहा—"देखती हूँ तुम बढ़-बढ़कर बातें बहुत मारते हो।"

उपेन्द्र ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"तुम्हारा कहना इसलिए सही हो सकता है कि तुम्हें अभी इस बात का पता नहीं है-कि दुनिया के अधिकांश महापुरुष सफल होने से पूर्व इसीलिए उपहास के पात्र बनते रहे कि दुनिया ने उनका मूल्यांकन तब किया, जब वे सचमुच महापुरुष बन गये। उनमें से बहुतेरे व्यक्ति ऐसे थे, जिन्हें उनके सगे-सम्बन्धी और मित्र तक लफंगा मानते थे!"

मंजु अब विचार में पड़ गई और सोचने लगी कि इनसे तो बात करना भी कठिन है। तब उपेन्द्र सोच रहा था—"मैं तो त्रुटियों के संशोधन को ही प्रगति की संज्ञा देता हूं।' फिर सायंकाल होते-होते उसका सारा उद्वेलन शांत पड़ गया। श्यामबिहारी को धन्यवाद देते हुए उसने लिख दिया—'मैं उसी उपकार को सबसे बड़ा मानता हूं, जिसमें प्रत्युपकार की भावना नहीं होती। इसके सिवा पहले अपने आपको समझो मित्र, दूसरों की चिंता कम करो।'

महावीरबाबू बीघापुर के स्टेशन-मास्टर थे और इस पद पर रहते हुए उनका यहाँ पाँचवाँ वर्ष था। जिस दिन वह बीघापुर स्टेशन के लिए रवाना हो रहा था प्लेटफार्म पर ही एक ऐसे व्यक्ति से उसकी भेंट हो गई, जो महावीरबाबू से परिचित था। फिर यह विदित हो जाने पर कि वह महावीरबाबू का दामाद है और वहीं जा रहा है, उसने मार्ग में भी उपेन्द्र के सम्मान का ध्यान रखा और उसे हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने में लगा रहा। उपेन्द्र यह

जानने के लिए स्वत: बड़ा उत्सुक था कि ससुर महोदय की आर्थिक स्थिति कैसी है। यों भी प्रत्येक प्रस्तुत प्रसंग में गहराई की थाह लेने की ओर उसकी दृष्टि बनी ही रहती। उपेन्द्र को मलाई से विशेष रुचि थी। इसलिए उसने प्रश्न कर दिया—बीघापुर में दूध का क्या भाव होगा ?

फतेहबहादुर ने उत्तर दिया—"भाव तो आठ सेर का है, मगर स्टेशन-मास्टर साहब के यहाँ दो भैंसें पली हैं। दूध-दही की उनके यहाँ कोई कमी थोड़े ही है।"

उपेन्द्र के मन में आया, 'तब तो चाचाजी के यहाँ एक ही भैंस के दूध से काम निकल जाता होगा। दूसरी भैंस का दूध हो सकता है, बेच लेते हों' और बिना सोचे समझे उसने कह दिया—"तब तो चाचाजी एक भैंस का दूध बेच लेते होंगे !"

चाँदी की कमानी का चश्मा फतेहबहादुर की नाक पर कुछ ढीला होता था। इसलिए चश्मे की कमानी के ऊपरी हिस्से की ओर से पलकें उठाकर देखते हुए मुंशी फतेहबहादुर ने उत्तर दिया—"ऐसी बात आपको नहीं सोचनी चाहिये कुमार साहब ! स्टेशन-मास्टर साहब को पैसे क़ी क्या कुछ कमी है जो उनको दूध बेच लेने की जरूरत पड़ेगी ! आपको पता न होगा बीघापुर आने से पूर्व वे कंचौसी में थे, जहाँ माल के लदान के सिलसिले में उनकी अच्छी-खासी आमदनी थी।"

"अच्छी-खासी आमदनी से आपका क्या मतलब है ?"

फतेहबहादुर चश्मे के पुल को पुन: नाक के ऊपरी हिस्से पर स्थापित करते हुए बोला—"यही बीस-पच्चीस रुपये नित्य। वेतन से कोई मतलब नहीं।"

उपेन्द्र को इस समय पूर्णतया भासित हो गया कि चचा साहब ने मेरे साथ दाँव-बाज़ी की है। सच पूछो तो उन्होंने मुझे ठग लिया है। डेढ़ सौ रुपया मासिक वेतन है उनका और पच्चीस रुपये नित्य की आमदनी अर्थात् लगभग एक हजार रुपये मासिक आय है उनकी।

फतेहबहादुर की इस बात का उपेन्द्र पर बड़ा प्रभाव पड़ा। परिणाम यह हुआ कि जलपान करते क्षण से लेकर नित्य दिन में दस बार वह यही सोचने लगा कि विवाह के बाद के इस प्रथम आगमन में देखता हूँ कितनी प्राप्ति होती है !

पास-पड़ोस में स्टेशन के बाबुओं के जो परिवार थे, उनके घरों की बड़ी-बूढ़ी प्रौढ़ स्त्रियाँ जब महावीरबाबू के दामाद को देखने आया करतीं और उसके मुँह

पर ही कह देतीं कि दामाद तो बहुत अच्छा मिला है स्टेशन-मास्टर साहब को, तब अवसर पाकर उपेन्द्र यह कहे बिना न मानता कि चाची अब आपसे क्या कहूँ, धोखे में मारा गया ब्रह्मचारी !

उसके इस कथन पर उपस्थित महिलाएँ हँस पड़तीं और मंजू की माँ के पक्ष-समर्थन में उन्हें कह देना पड़ता— "ऐसी बात नहीं है बबुआ । न तो मंजु के बाबू ही कंजूस तबियत के हैं, न हमारी यह जीजी ही । ब्याह में जो तय हुआ था वह तो उन्होंने दिया ही था ।"

ऐसे अवसर पर उपेन्द्र चूकता नहीं था । एक क्षण भी रुके बिना उसके मुँह से निकल जाता—"यही तो मुझे शिकायत है चाचीजी कि ठगा मुझको गया है । मेरे जैसे दामाद को भला यह रोमर घड़ी दी जानी चाहिए थी जो निकिल की है, इतना भी तो नहीं हुआ कि सोने की घड़ी देते ! साइकिल दी वह भी हरकुलीज । चाहते तो बी०एस०ए० नहीं दे सकते थे ! वैसे देनी तो मोटर-साइकल चाहिए थी । वह तो कहिए कि मेरा स्वभाव ही ऐसा सीधा है कि जो मिल जाता है उसी से सन्तोष कर लेता हूँ । और दादी, आपको मालूम ही है कि सीधा और सच्चा आदमी ही संकोच में मारा जाता है । मैं तो इस सिद्धांत का पक्षपाती हूँ कि दे तो बढ़िया-से-बढ़िया चीज दे, नहीं तो न दे ।"

छिपे रूप से मंजू सारी बातें सुनती रहती और बाद में जब स्वामी से भेंट होती तो अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त किये बिना न मानती, "जाओ मैं तुमसे नहीं बोलती ।"

"क्यों ? आखिर इस नाराजी का कारण ?" उपेन्द्र कह देता । मंजु स्पष्ट ही कह देती—"देखती हूँ, तुममें तृष्णा बहुत है । संतुष्ट तो तुम कभी हो ही नहीं सकते ।"

उस दिन भी मंजु ने गम्भीर होने का प्रयत्न करते हुए उत्तर दिया— "चाचाजी ने जितनी वस्तुएँ दीं, तुम्हारा कहना है कि वे सभी निम्नकोटि की हैं, तो क्या मैं भी निम्नकोटि की हूँ ?"

उपेन्द्र ने हँसते-हँसते उत्तर दिया—"समझीं नहीं तुम । तुम कोई वस्तु थोड़े ही हो । तुम तो मेरा मन हो, आत्मा हो मेरी । तुम्हारी गणना पदार्थों

और वस्तुओं में तो हो नहीं सकती। वह तो मेरा भाग्य था जो तुम मिल गईं। असल में तुम तो मेरे लिए पैदा ही हुई थीं इसलिए भागकर जा कहाँ सकती थीं। फिर मेरे कथन का मुख्य अभिप्राय भी तुमने अभी नहीं समझा। चाचाजी ने उचित से कहीं कम जो मेरा मूल्यांकन किया, उसमें मेरा नहीं, दरअसल तुम्हारा अपमान हुआ है; क्योंकि तुम्हारा अस्तित्व मुझसे अब अलग तो रहा नहीं। मैं तुम्हारा पति हूँ, इस नाते मेरे अपमान की अपेक्षा तुम्हारे अपमान का मूल्य कहीं अधिक है; क्योंकि इस घर के लिए पहले तुम हो, उसके बाद मैं। मुझे चोट इस कारण नहीं लगी कि उन्होंने मेरा अपमान किया; बल्कि इसलिए लगी कि उन्होंने तुम्हारा अपमान किया।" इस प्रकार मंजु को प्रतीत हुआ, सचमुच इनका कहना ठीक है।

उपेन्द्र को आये अभी दो दिन ही नहीं हुए थे कि महाबीरबाबू ने अपनी पत्नी प्रेमा से कहा—"और तो सब ठीक ही हुआ, लेकिन मैंने सुना उपेन्द्रबाबू को लेन-देन के सम्बन्ध में शिकायतें बहुत हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि उसके असंतोष के मूल में क्या है?"

प्रेमा ने व्यावहारिकता की दृष्टि से उत्तर दिया—"लड़के तो इस तरह कहते ही रहते हैं; फिर हमारे पास जो कुछ भी है मनोहर और मंजु के लिए ही तो है। जो कुछ कर सको वह उत्साहपूर्वक करो। मैं नहीं चाहती कि वह यहाँ से किसी प्रकार से असन्तुष्ट होकर जाय। वैसे तुमने सोचा क्या है?"

प्रेमा ने स्वामी का मन लेने के लिए प्रश्न किया।

महाबीरबाबू अनुभवी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने इस छोटे-से जीवन में ऐसे दिन भी देखे थे, जब उन्हें सप्ताह में एक दिन साग-भाजी खाने को मिलती थी। पिता गाँव की प्रारंभिक पाठशाला में सहायक अध्यापक थे। घर में जब घी चुक जाता और मोल लेने के लिए रुपये भी न रह जाते, क्योंकि वेतन ही बहुत देर से मिला करता था, तब अठुली के तेल से बनी पूरी उन्हें खानी पड़ती थी। और उन दिनों सभ्य घरों में अठुली के तेल की पूरी की गणना दरिद्रता में की जाती थी; क्योंकि सामान्य रूप से अठुली के तेल से बनी पूरियाँ प्रजा-जनों को त्यौहारों पर दी जाती थीं।

महाबीरबाबू की मान्यता थी कि न गिरनेवाले से गिरकर उठनेवाला श्रेष्ठ

होता है; क्योंकि उसे गिरे हुए दिनों का बोध हो चुका रहता है। इस क्रम में उनका मत था कि दर्शन तो मात्र चिन्तन का फल है, किन्तु अनुभव वह सत्य है जो नग्न होता है, जिसमें न बाहर से कोई छिपाव या दुराव रहता है न भीतर से।

अतएव प्रेमा के प्रश्न के उत्तर में उन्हें कहना पड़ा—"तुम्हारे पास जो कुछ भी हो, इच्छानुसार दे देना। केवल इस बात का ध्यान रखना कि दबाव में पड़कर दिया हुआ धन न देने वाले के लिए शान्तिकर होता है और न पाने वाले के लिए; क्योंकि बाद में चलकर देनेवाला ऐसी परिस्थिति से बचने की चेष्टा करता है और लेनेवाला समझता है कि माँगने की मेरी नीति जिस तरह आज सफल हो गई है उसी प्रकार सदा सफल होती रहेगी और कालान्तर में जब कभी ऐसा नहीं होता, तब दोनों पक्षों के हृदयों में एक ग्रंथि पड़ जाती है।"

स्वामी के इस उत्तर का प्रेमा पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। अतः उसके मुँह से निकल गया—"तुम तो साधारण-सी बात में प्रवचन झाड़ने लगते हो। अरे मैं जानना चाहती हूँ कि दामाद के लिए इस अवसर पर कुछ करोगे भी या नहीं?"

महावीरबाबू ने कुछ सोच-समझकर उत्तर दिया—"पहले तुम यह जानने की चेष्टा करो कि वह चाहता क्या है; क्योंकि जो हम दे चुके, उसमें तो अब सुधार हो नहीं सकता।"

इसी क्षण प्रेमा बोल उठी—"तुम कहते हो तो मैं उसका मन टटोलने की कोशिश करूँगी। लेकिन इस रीति को मैं उचित नहीं समझती। हमको जो कुछ भी करना चाहिये, अपने मन से। और यह तो कभी सोचना ही नहीं चाहिये कि उसको सन्तोष होगा या नहीं।"

महावीरबाबू यह मानने लगे थे कि घर और गृहस्थी की व्यवस्था में गृहिणी से सलाह ले लेना सदा उत्तम होता है। यद्यपि उनके कई दोस्तों का कहना था कि इस पद्धति को अपनाना भले ही श्रेयस्कर हो, पर इसे सिद्धान्त बना लेना उचित न होगा।

अतएव अन्त में उन्होंने कहा—"अच्छा, तो फिर मैं विचार करके इसका उत्तर दूंगा।"

तीसरे दिन से उपेन्द्र के लिए दी जानेवाली वस्तुओं के लाने का कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया। महाबीरबाबू उपेन्द्र के सूट के लिए सिल्क का जो कपड़ा ले आये उसे अंगुली पर रख कर टटोलते हुए उपेन्द्र ने एक बड़े पारखी की भाँति कह दिया—"कपड़ा यों अच्छा है, मगर माफ कीजियेगा, मुझे पसन्द नहीं आया।"

"अच्छा भी है और पसन्द भी तुम्हें नहीं आया, इसका क्या मतलब हुआ ?"

"मतलब यह कि क्लर्कों के लायक तो अच्छा है, मगर मेरी अफसरों जैसी तबियत वाले व्यक्ति के लायक तो नहीं है।"

महाबीरबाबू दामाद के इस उत्तर को सुनकर मुस्करा उठे। और महाबीर-बाबू जब मुस्कराते थे तो उसका कुछ अभिप्राय होता था। अधिक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को तो वह महत्त्व देते थे, पर उसकी लोलुपता पर उन्हें दया आती थी। और महावीरबाबू की मुस्कराहट में जब एक प्रकार की दया का आभास मिलता था तब उनकी चश्मे के भीतर से झाँकती हुई दृष्टि देखते ही बनती थी।

एक निःश्वास के साथ वे बोले—"अच्छा तुम्हारे मन का सूट कितने में आयेगा ?"

उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"कमीज, वेस्टकोट, कोट और पैंट सौ-सवासौ रुपये से कम में क्या बनेगा ? यों आप चाहें तो मैं सौ रुपये में भी काम चला सकता हूँ।"

महावीरबाबू के मन में तो आया कि इस मद में सौ रुपये देने पर भी यही व्यक्ति फिर कहेगा कि चाचाजी ने मेरा उचित मूल्यांकन नहीं किया।

महावीरबाबू ने सवासौ रुपये के नोट उसी समय उपेन्द्र को दे दिये।

एक हाथ से उपेन्द्र ने रुपये लिये और दूसरे हाथ से सास की ओर बढ़ाते हुए कहा—"उसे दे दीजिये, सूटकेस में रख देगी।"

महाबीरबाबू मुस्कराते हुए लौट ही रहे थे कि उपेन्द्र बोला—"मगर चाचाजी एक रेशमी चद्दर, एक फैल्ट हैट, दो बनियान, चार रूमाल, दो जोड़े मोज़े और जूते का सवाल तो अभी बाकी ही है।"

अंगुली पकड़कर पहुँचा पकड़नेवाली दामाद की यह नीति सुनकर महाबीर-बाबू स्तम्भित हो उठे। एकाएक जाते-जाते ठहर गये और बोले—"बेटा, दस

दिन से कुछ आमदनी नहीं हुई, अब तो जब रुपया आयेगा तभी कुछ होगा।"

"ऐसा मत कहिये चाचाजी कि सत्य को किसी कोने में जाकर मुँह छिपाना पड़े। मैंने तो सुना है कि दस-बीस हजार रुपये इधर-के-उधर होना भी आपके लिए कोई अर्थ नहीं रखता।"

कुछ गम्भीर और उदास होकर महाबीरबाबू ने कहा—"बेटा कभी थे ऐसे दिन, मगर अब वे चले गये। खैर तुम नहीं मानते हो तो पचास रुपये अपनी चाची से ले लेना।...अरे सुनती हो? पचास रुपये उपेन्द्र को और दे दो अभी।"

कथन के साथ महाबीरबाबू खड़ी हुई मालगाड़ी को पास करने के लिए चल दिये।

दो मिनट बाद जब प्रेमा दामाद को पचास रुपये और देने लगी तो उपेन्द्र बोला—"चाची, तुम सोचती होगी कि मैंने चाचाजी को ठग लिया है। मगर वास्तव में बात यह है कि मंजु के पास न आधुनिक शैली के गहने हैं न वस्त्र, जिनको पहनकर वह मेरे साथ समाज में आ-जा सके। मेरे पास रुपये बच नहीं पाये, इसलिए मैं अपनी ओर से कुछ कर भी नहीं सका। अब ये रुपये पाकर मैं उसके लिए एक अच्छी-सी साड़ी ले आऊँगा।"

दामाद का प्रस्ताव सुनकर प्रेमा आनन्द-विभोर हो उठी। हँसते-हँसते उसने पूछा—"फिर सूट कैसे बनेगा?"

जो कपड़ा महाबीरबाबू दामाद के लिए ले आये थे उसका पैकट अभी तक पलँग पर ही रक्खा था। उपेन्द्र ने उसे उठाकर उत्तर दिया—"चाची, सूट मैं अब इसी का बनवा लूँगा।"

प्रेमा प्रसन्न पुलकित सोचने लगी—'कोई कुछ भी कहे, पर मेरा उपेन्द्र सच-मुच ही बड़ा बुद्धिमान् है।' और प्रकट में वह बोली—"बेटा, लोग जब तुम्हारी प्रशंसा करते थे, तब मैं ऊपरी मन से 'हाँ-हूँ' कर दिया करती थी। मुझे मालूम न था कि जीवन की हर दिशा में तुम इतने चतुर दिखाई दोगे।"

तब हँसता-हँसता उपेन्द्र साहसपूर्वक बोला—"कोरी प्रशंसा सुनकर मेरा पेट नहीं भरता और संतोष भी नहीं होता। छोड़ूँगा नहीं मैं चाची आपको भी। रास्ते में एक विदुषी महिला को जैसी झुमकी पहने हुए मैंने देखा है, मंजु के लिए भी

वैसी ही झुमकी खरीदने के लिए व्याकुल हूँ। इसलिए मैं ठगूँगा आपको भी।"

प्रेमा के मन में आया, 'विवाह तो इसी उमर में अच्छा होता है। अगर मैं इस देहाती समाज के प्रभाव में आ जाती तो मेरी इस मंजु को जीवन का भला क्या ज्ञान होता? आज-कल लोग बारह वर्ष की अवस्था में ही विवाह कर देते हैं। मंजु से इस विषय में अवश्य बातें हुई होंगी।' तब कुछ संकोच के साथ प्रेमा बोली—"कितने में बनेगी वैसी झुमकी?"

"बनने को तो पचहत्तर में भी बन सकती हैं; मगर मैं आपसे सौ रुपये चाहूँगा। मैं उस ठगाई का पक्षपाती नहीं जिससे कोर-कसर बनी ही रहे।"

प्रेमा ने अनुभव किया, 'इससे बहुत सम्हल-सम्हलकर बात करना चाहिये। ज़रा-सी भी गुँजाइश देखकर यह ऐसी माँग पेश कर देता है कि इनकार करना असहनीय हो उठता है।' तब उसने कहा—"बेटा आज-कल वैसा रह नहीं गया। देहात में जो कच्चा मकान था, गाँववालों के बहकावे में आकर इन्होंने उसे पक्का बनवा लिया है। दरवाजे पर कुआँ तो बन गया है; मगर अभी मन्दिर बनना बाकी है। इस समय अगर मैं कुछ न कर सकूँ तो बुरा न मानना। यों वादा करती हूँ कि आगे-पीछे मैं तुम्हारी यह माँग भी पूरी कर दूँगी।"

रात को जब इसी विषय को लेकर प्रेमा और महावीरबाबू की बातें होने लगीं तो महावीरबाबू बोले—"तुम इसकी बड़ी प्रशंसा कर रही थीं। मगर मुझे तो बड़ा ठग जान पड़ा। हमारा भी ब्याह हुआ था पर हमने तो कभी सास-ससुर के सामने मुँह खोला नहीं।"

प्रेमा ने सोचा, 'अगर ये अप्रसन्न हो गये तो इसका दामाद पर न जाने क्या प्रभाव पड़े और मंजु का सारा सुख तो दामाद की ही प्रसन्नता पर निर्भर है।' अतः उसने कहा—"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। लड़का बहुत सुधरे हुए विचारों का है। वह अपने शौक का उतना ध्यान नहीं रखता, जितना मंजु का।"

"तुम चाहे जो कुछ समझो, लेकिन उसने मेरे ऊपर यही प्रभाव डाला है कि वह उपहार और भेंट स्वीकार नहीं करता; युक्ति से नोच-खसोटकर जबरदस्ती ले लेता है। और भी एक बात है जो मैंने तुम्हें नहीं बताई। कल रात बातों-बातों में उसने मुझसे कहा कि प्यार ही नहीं, श्रद्धा का भी एक अधिकार होता है। मैं

आपको जितनी श्रद्धा की दृष्टि से देखूँगा अपने सुख-दुःख के दायित्व के प्रश्न को भी मैं आपके समक्ष उतने ही अधिक वेग के साथ उपस्थित करूँगा। मैंने जब उससे कहा कि अधिकार तो कर्त्तव्य-पालन के बाद उत्पन्न होता है तो, जानती हो उसने क्या उत्तर दिया।"

"नहीं, बताओ न ?"

महाबीरबाबू बोले—"उसने उत्तर दिया कि यह आपने कहाँ से सुन लिया ? बच्चा इस धरती पर पैदा होते-होते अपना अधिकार स्थापित कर लेता है तभी तो संसार उसे उत्तराधिकारी मानने लगता है।"

प्रेमा महाबीरबाबू के बतलाये हुए उत्तर से प्रभावित हुए बिना न रह सकी और बोली—"मंजु के बाबू, तुम चाहे जो समझो, लेकिन मुझे तो उसीका कहना सही जान पड़ता है।"

महाबीरबाबू ने उत्तर दिया—"अस्तित्ववाद की इस सतही बात को तुम नहीं समझ सकोगी। वास्तव में कर्त्तव्य के बिना अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। सच पूछो तो हमारी कर्त्तव्यात्मक भावना ने ही समाज को यह मान्यता दी थी।...तुम देख लेना कि यह इसी तरह जीवन-भर हम लोगों को दुहता रहेगा। तुम्हें मालूम नहीं, मैंने हिसाब लगाकर देखा है कि कल से आज की इस घड़ी तक इसके पास पाँच सौ रुपये से ऊपर इकट्ठे हो गये हैं। सूट का कपड़ा और झुमकी का वादा अलग।"

प्रेमा बोली—"चिंता मत करो मंजु के बाबू, दामाद को दिया हुआ धन कहीं जाता है ? मंजु सुखी रहे तो यह सब देना हमको कभी खल नहीं सकता।"

दूसरी ओर इसी क्षण मंजु और उपेन्द्र में भी बात हो रही थीं। मंजु कह रही थी—"तुम्हारा यह कहना मुझे ठीक नहीं लगा कि तुम्हारा यहाँ आना मुझे अच्छा नहीं लगा। कोई भी पतिप्राणा नारी ऐसा नहीं सोच सकती। मेरा कहना तो सिर्फ इतना है कि धन-सम्पदा के रूप में तुम शक्ति का भरपूर संचयन करो, मगर धौंस-पट्टी के बल पर नहीं। रजा-मन्दी के साथ—हँसी-खुशी के साथ—प्रेम और निष्ठा के साथ।"

उसके इस कथन के बाद उपेन्द्र का उत्तर था—"तुम्हारा यह विचार मैं इस-लिए सही नहीं मानता कि जीवन एक व्यापार है और व्यापार में छल और प्रपंच एक नीति का नाम है—युक्ति का नाम है। संसार शक्ति की पूजा करता है—सामर्थ्य और ऐश्वर्य के सामने झुकता है। यह कोई नहीं देखता कि उसकी सर्जना के मूल आधार क्या रहे हैं। मगर छोड़ो, तुम इन बातों को नहीं समझोगी। लाओ दूध, लाओ।"

मंजु के हाथ से गिलास लेकर दूध पीते हुए उपेन्द्र बोला—"आज इसमें मलाई कुछ कम जान पड़ती है।"

"अब मलाई कहाँ से आई, सब तो कुल्फी में पड़ गई थी।"

उपेन्द्र तब पेट पर हाथ फेरता हुआ बोला—"खैर जाने दो। आज दोपहर से यों ही पेट कुछ खराब जान पड़ता है। अब सोया जाय।"

इसी समय मंजु ने कह दिया—"तुम्हारा सब सामान मैंने ठीक से पैक करवा दिया है, पर अब भी मेरी राय यही है कि रुपये तुम इस सूटकेस में मत रखो। सबसे अच्छा तो यह होगा कि तुम अपने लेदरवाले बैग में रख लो, क्योंकि वह तो सदा तुम्हारे हाथ में ही रहता है।"

उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"मेरे पैसे कहीं जाएँगे नहीं, न मेरा सूटकेस ही कोई चाट जायगा। यों मुझे यह बात सदा याद रहती है कि संकटों से लड़ने का नाम ही जीवन है।"

७

उपेन्द्र जब घर लौटकर आया, तो कलावती बड़ी देर तक उसके पास बैठी बातें करती रही। पहले उसने पूछा—"तेरे सास और ससुर हम लोगों के व्यव-हार से सन्तुष्ट तो हैं? मतलब यह कि बहू ने वहाँ पहुँचकर कोई ऐसी बात

तो नहीं कही जो हमारे सम्मान के विरुद्ध हो; क्योंकि स्टेशन-मास्टर साहब बड़े आदमी ठहरे, वैसे बहू को हमने कोई तकलीफ तो नहीं होने दी। लेकिन फिर हर आदमी की अपनी सीमाएँ होती हैं।"

"सीमाएँ होती हैं तभी तो आदमी का भड़कता हुआ असन्तोष उन सीमाओं को तोड़ने का मुख्य कारण बन जाता है। हमारे घर में एक तो वैसी कोई बात हुई नहीं, दूसरे यह बात भी तो है कि अब इस घर का सम्मान उसका अपना सम्मान है।"

कलावती बोली—"बेटा, मुझे इसी बात का सबसे बड़ा डर था। अच्छा और क्या-क्या बातें हुईं ? स्वागत-सत्कार कैसा हुआ ?"

उपेन्द्र कुछ आत्म-श्लाघा के स्वर में बोला—"स्वागत और सत्कार तो आदमी के व्यक्तित्व पर निर्भर रहता है। प्रतिष्ठा उसी आदमी को मिलती है जो प्रभावशाली होता है। जिसकी वाणी में मिठास, वेश-भूषा में उच्चता और स्वभाव में सुशीलता का पुट रहता है, उसका स्वागत-सत्कार होना ही चाहिये।"

प्यार के लोच में आकर कलावती ने कह दिया—"उपेन्द्र, तू मुझसे बहुत बढ़-बढ़कर बातें न मारा कर।"

सहसा उपेन्द्र हँस पड़ा और बोला—"अम्मा, मैं तुमसे सच कहता हूँ कि कुछ स्वागत तो उन्होंने अपने मन से किया और कुछ मेरी नीति और युक्ति से पराजित होकर उन्हें करना ही पड़ा!"

अब कलावती ने पूछा—"तो सच-सच बता, कितना रुपया मिला ?"

उपेन्द्र सच बोलने का बहुत पक्षपाती न था। धीरे-धीरे अब वह यह मानने लगा था कि जब हर आदमी चोरी करता है, झूठ बोलता है, धोखा देता है और मज़े से मन्दिर में जाकर अपने इष्टदेवता पर फूल और गंगाजल चढ़ा आता है और घर आकर प्रसाद में इलायची-दाने, पेड़े, बताशे या लड्डू बाँटकर संतोष की साँस ले लेता है, तब यह मान लेने में क्या बुराई है कि अभी रात बहुत है, अँधेरा प्रबल है और सूर्योदय होने में देर है, बड़ी देर है।

अतः उसने कह दिया—"मिल गये हैं सौ-रुपए के करीब। और मेरे सूट के लिए जो कपड़ा दिया है वह अलग।"

उसने यह नहीं बतलाया कि मंजु के लिए झुमकी बनवा देने का भी उन्होंने वचन दिया है।

कान्ति नीबू का शरबत बनाकर ले आई और बोली—"दद्दा, भाभी को मेरी याद कभी आती थी कि नहीं? क्योंकि मेरी बनाई हुई हरी अमियाँ और पुदीना की मीठी चटनी वे बहुत पसन्द करती थीं।"

कमरे में बड़ी देर से एक चिड़िया चीं-चीं बोल रही थी। बल्कि कहना चाहिए चीत्कार कर रही थी; क्योंकि उसका एक बच्चा छत पर लगे सीलिंग फैन के पंख से टकराकर अभी-अभी मर चुका था! उपेन्द्र ने देखा, वह बच्चा सोफे पर अब भी पड़ा हुआ है।

इसी समय सुरेन्द्र आ गया। उपेन्द्र के पैर छूते हुए उसने बताया कि दद्दा श्यामबिहारीबाबू आज तुम्हें पूछ रहे थे। कह रहे थे कि उनको अब तुरन्त आ जाना चाहिये।

सुरेन्द्र की बात सुनकर उपेन्द्र बोला—"मैं आज उससे मिल लूँगा। और कान्ति तुम्हारे लिए तुम्हारी भाभी ने यह साड़ी-ब्लाउज और सुरेन्द्र तुम्हारे लिए कुरता और पैजामे का कपड़ा और तुम दोनों के लिए यह आमों की टोकरी भेजी है। मगर उसको तुम दोनों से इस बात की बड़ी शिकायत है कि तुमने उसे कोई पत्र नहीं लिखा।"

कलावती मुस्कराती हुई बोली—"मैं जानती थी उपेन्द्र, महाबीरबाबू ने जब बुलाया है तो स्वागत-सत्कार में वे कोई बात उठा न रक्खेंगे।"

इतने में उसने अपने सूट के कपड़े का पैकेट भी कलावती को दिखलाते हुए कहा—"यह है मेरे सूट का कपड़ा।"

कलावती ने कपड़ा देखते हुए कहा—"कपड़ा ता बहुत अच्छा है।"

इतने में काशीबाबू आ गये। उन्होंने भी कपड़ा देखा और बोले—"सूट इसका खिलेगा भी खूब। असली रेशम है।"

तब पर्स में अलग रक्खे हुए सौ रुपये निकालकर कलावती की ओर बढ़ाता हुआ उपेन्द्र बोला—"यह लो, मिले हुए सौ रुपये और यह बचे हुए सात रुपये।"

काशीबाबू बोले—"रक्खो-रक्खो, अब यह रुपये तुम्हारे ही हैं, मगर सूट की

सिलाई इन्हीं में से देना। मुझसे मत माँगना।"

उपेन्द्र फिर अन्तर्मुखी हो गया।—इधर गरमी बहुत पड़ने लगी। लू का यह हाल कि डर लगता है, घर से निकलूँ कैसे ! बड़ा मुश्किल है जीवन की नानावृत्तियों को समझना। पता नहीं क्यों, आजकल अंधेरा मुझे बड़ा सुहावना लगने लगा है।

बाबू मेरा इतना अधिक ध्यान रखते हैं कि कभी-कभी मैं चक्कर में पड़ जाता हूँ। लगता है, यह भी अंधेरे का ही प्रभाव है। लेकिन फिर घूम-फिरकर स्थिरता उसी जगह मिलती है, जहाँ प्रत्येक प्रकार का प्यार दूसरी ओर से स्वार्थ के रूप में कभी मूक और कभी मुखर दिखाई देने लगता है। इधर धुँधलके में कुछ छायाएँ मेरे पीछे लगी रहती हैं। विश्वास ही नहीं होता कि किसी भी कार्य के साथ उसके आधारभूत कारणों का अटल सम्बन्ध नहीं है। कितना अच्छा होता कि बाबू को पूरे पाँच सौ रुपये दे देता। अम्मा को कितनी प्रसन्नता होती। मान लो सौ-दोसौ रुपये ले भी लेते तो, क्या बाद में मैं उनसे सूदसहित झटक न लेता !···ये छायाएँ स्वार्थ की पोशाक पहनकर निकलती हैं। मैं उन्हें सदा मुस्कराता हुआ पाता हूँ।

मगर फिर पाँच मिनट बाद ही उसके ध्यान में आया कि कभी-कभी ऐसा भी समय आ जाता है कि न बात काम देती है, न बाप काम देता है। एक रुपया है जो काम देता है।...ये छायाएँ उस समय तक मेरा पीछा नहीं छोड़तीं, जबतक मैं सो नहीं जाता।

दूसरे दिन परीक्षाफल वाले दैनिक-पत्र का अंक लेकर सुरेन्द्र खुशी के मारे उछलता हुआ आया और काशीबाबू के चरण छूकर बोला—"बाबू।"

फिर हाँपते-हाँपते उसने कहा—"मुझे फर्स्ट डिवीजन मिला है और मेरिट लिस्ट में मेरा नम्बर दूसरा है।"

काशीबाबू ने पहले उसके सिर पर हाथ फेरा, फिर उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा—"युग-युग जियो और इसी तरह सदा उन्नति करते जाओ। अरे सुनती हो, तुम्हारा बेटा इंटर में फर्स्ट डिवीजन पा गया और मेरिट लिस्ट में उसका दूसरा नम्बर है।"

कलावती झट से सामने आ गई और बोली—"उपेन्द्र के बाबू, मैं रोज भगवान् से इसके लिए प्रार्थना करती थी।"

इतने में कान्ति भी आ पहुँची और काशीबाबू बोले—"इसी बात पर मिठाई खिलाओ और देखो हमारे ड्रार में लम्बे-लम्बे छोटे से डिब्बे में जो घड़ी रक्खी है इसे लाकर दे दो।"

तभी उपेन्द्र भी आ पहुँचा और-सुरेन्द्र ने तत्काल उसके पैर छू लिये। उपेन्द्र ने न तो आशीर्वाद में कुछ कहा और न यही कहा कि मुझे बड़ी खुशी हुई। वरन् कहा यह कि देखें अखबार।

सुरेन्द्र ने रोलनम्बर के कोने में लाल स्याही से टिक मार्क लगा दिया था। वही उसने उपेन्द्र के सामने कर दिया।

इतने में कान्ति ने घड़ी लाकर काशीबाबू को दे दी। अब काशीबाबू बोले—"लो, यह रहा तुम्हारा इनाम।"

"ऊँ-ऊँ, इनाम में मैं घड़ी न लूँगा। मुझे तो आप वैसा ही सूट बनवा दीजिए जैसा दद्दा ले आये हैं।"

उपेन्द्र समाचार-पत्र को तहाकर मेज पर रखता-रखता सोच रहा था—'चार वर्ष पूर्व जब मैंने इन्टरमीजियेट में फर्स्ट क्लास पाया था, तब मुझको तो घड़ी ले नहीं आये थे।...हूँ, घड़ी क्या मिठाई तक नहीं ले आये थे!'

अबतक कलावती सुरेन्द्र के हाथ में घड़ी बाँध चुकी थी। उपेन्द्र के मन मे आया, 'बाबू ही नहीं अम्मा भी इसी सुरेन्द्र को ज्यादा प्यार करती हैं।...यह प्रभाव भी उन्हीं छायाओं का है। इधर तो उन्होंने रोना प्रारम्भ कर दिया है। बहुधा मैं उनका स्वर सुना करता हूँ। लेकिन उन्होंने किया, वास्तव में प्रशंसा का काम।

काशीबाबू बोले—"बेटा इतना कीमती सूट बनवाना मेरी हैसियत के बाहर है। उपेन्द्र को तो ससुराल से मिला है, उसकी बात और है। फिर तेरे लिए घड़ी खरीदने में मैं रुपये लगा ही चुका हूँ। ऐसा सूट का कपड़ा खरीदना अब मेरे बस के बाहर है।"

"हूँ, यह तो अपने-अपने भाग्य की बात है, इसमें किसी का साझा तो है नहीं। इंटर में फर्स्ट डिवीजन पाया है, एक दिन बी० ए० में भी पा जायगा।

हो सकता है, विवाह उसका ऐसी जगह हो, जहाँ उसे कार मिल जाय।"

उपेन्द्र खड़ा-खड़ा सब सुनता रहा, यद्यपि उसने सूट सिलने के लिए तबतक कपड़ा नहीं दिया था।

इसी समय कलावती बोली—"रुपये तुम मुझसे ले लो, बाद में मुझे देते रहना। मगर तुम सूट तो इसको बनवा ही दो।"

इस दृश्य को उपेन्द्र सहन न कर सका और प्रतिक्रिया में अपने कमरे की ओर चलता हुआ सोचने लगा कि मुझे इस भेद-भाव का पता न था। खैर, देखा जायगा।

इसी समय कान्ति बोली—"दद्दा, मेरी मिठाई ?"

कलावती जब सुरेन्द्र को दो रुपये देने लगी तो काशीबाबू बोले—"नहीं-नहीं, पाँच रुपये दो। आज मैं भी जी-भरकर मिठाई खाऊँगा और देखो, मंगली हलवाई के यहाँ से लाना।"

इतने में एक प्यून ने सामने आकर कहा—"सुरेन्द्र बाबू का तार।"

सुरेन्द्र ने झट से नम्बर मिलाकर हस्ताक्षर कर दिया और लिफाफा खोल-कर देखते हुए कह दिया—"जीजाजी का तार है, बधाई का।"

जाता हुआ प्यून लौट पड़ा और बोला—"मेरा इनाम ?"

काशीबाबू ने अठन्नी उसके हाथ में धर दी।

काशीबाबू के चश्मे में झाँकती आँखों की ओर देखकर प्यून बोला—"इनाम कम है बड़े बाबू।"

काशीबाबू बोले—"ले लो, ले लो, सेर-भर मिठाई मिलेगी और क्या चाहिये ?"

प्यून बोला—"बड़े बाबू, अब आपसे क्या कहूँ। और जगह होता तो एक रुपये से कम न लेता।"

अपने कमरे के दरवाजे पर खड़ा-खड़ा उपेन्द्र यह सब देख रहा था और मन-ही-मन कुढ़ रहा था कि विदाई के दिन बाबू ने अपने मन से मंजु को देने के लिए एक झंझी नहीं दी थी और आज उदारता में दानी कर्ण बन गये हैं ! मगर उपेन्द्र अनुभव करता है कि इस संसार ने सदा उसके साथ अन्याय किया

है। उसके हृदय में घाव होते जा रहे हैं।

इसी समय कलावती काशीबाबू से बोली—"मिठाई बहू के पास कैसे पहुँचेगी ?"

काशीबाबू बोले—"ऐसा करो तुम उपेन्द्र की माँ कि बहू और पूर्णिमा को दो-दो रुपये मनीआर्डर करवा दो आज ही। कूपन पर लिख देना कि पोजीशन के साथ सुरेन्द्र के उत्तीर्ण होने की खुशी में मिठाई खाने के लिए।

उपेन्द्र कमरे के दरवाजे से चलकर कलावती के पास आता-आता लौट पड़ा और सोचने लगा—'मंजु के लिए, विदाई के समय, दो रुपये की भी मिठाई इनसे नहीं मँगाती बनी। 'ससुराल में क्या मिला, कितना अच्छा हुआ कि मैंने इनको इसका पूरा भेद नहीं दिया। कभी-कभी मैं भावुकता में पड़कर कितना गलत सोच जाता हूँ। आदमी की सम्पूर्ण सफलता इस निष्कर्ष का पता पा लेने में है कि सही मार्ग कौन-सा है। और अगर सभी लोग सही मार्ग पा जाते, तो इस संसार का रूप ही दूसरा होता। अब तो अपने रास्ते पर स्थिर बना रहना ही मेरे लिए समीचीन है।...तुम कुछ भी कहो, कुछ भी करो, मैं अपने जीवन-मार्ग को छोड़ नहीं सकता। अन्तरात्मा की यह उदासी दिनानुदिन गहराई पकड़ती जा रही है। ऐसा भी तो हो सकता है कि मुझे जल्दी कहीं नौकरी न मिले ! और आश्चर्य नहीं कि मैं किसी प्रतियोगिता में सफल न हो सकूँ।...पाप तो पाप है ही। पुण्य भी पाप है, क्योंकि वह मनुष्य को भ्रम में डाल देता है। जो खाइयाँ वह दूसरों के गिरने के लिए खोद रखता है, उसी में स्वयं जा गिरता है। पाप अगर लोहे की सींखचों का बन्दीघर है तो पुण्य चाँदी के सींखचों का। बन्दीघर दोनों हैं।

श्यामबिहारी ने कहा—"तुम्हारा विचार मुझे सही नहीं जान पड़ता। ईर्ष्या की ग्रंथियाँ मन में ही लगती हैं। वक्तव्य और घोषणा द्वारा शब्दों का रूप ग्रहण नहीं करतीं, मैं ऐसा नहीं सोचता। मैं अगर तुम से ईर्ष्या करता होता तो मेरा रूप कुछ दूसरा होता। मैं तो अब भी तैयार हूँ कि इन्टरव्यू के लिए बुलाये जाने पर भी वहाँ कदापि न जाऊँ, जहाँ तुमने जाना निश्चित कर लिया हो। लेकिन मैं इसे कायरता समझता हूँ।"

"तुम मानो चाहे न मानो मिस्टर श्यामबिहारी, मैं इस प्रकार की सस्ती कृतज्ञता पर विश्वास नहीं करता। संघर्ष से डरने वाले व्यक्ति को मैं कायर और भीरु समझता हूँ। और भी एक बात है। नियुक्ति न होने से पहले इस विचार का मेरी दृष्टि में कोई महत्त्व भी नहीं है।"

"इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि मेरी नियुक्ति हो जाय फिर भी मैं उसे स्वीकार न करूँ!"

"मेरी बात छोड़ो, मैं तुमसे कुछ नहीं चाहता। तुम क्या चीज हो जी, मैं किसी से कुछ नहीं चाहता। आज हवा में आग की लपटें सम्मिलित हैं। मेरा तो दम घुट रहा है। बन्द कर दो यह पंखा। चलो आज नाव पर सैर की जाय। मगर जाने दो। मुझे इस समय मंजु की बहुत याद आ रही है। सोचता हूँ, उसके बिना सब मिथ्या है।"

उपेन्द्र की इस बातचीत का श्यामबिहारी पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। अतः वह बोला—"मेरी समझ में नहीं आता कि अन्ततोगत्वा तुम चाहते क्या हो? तुम्हारी जीवन की सारी गतिविधि देखकर मैं तो अन्त में इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि तुम किसी के आत्मीय नहीं हो सकते। माता, पिता, भाई, बहन, पत्नी यहाँ तक कि हम भी तुम्हारे लिए कोई अर्थ नहीं रखते। जरा सोचो, थोड़ी देर के लिए, जिस प्रकार के संसार की तुम कल्पना करते हो, वैसे कभी बन भी सकता है? ऐसे कौन से सुरखाब के पंख तुममें लगे हैं, जिनके आधार पर तुम कह सको कि तुम्हीं को सब-कुछ चाहिये, अन्य किसी को कुछ नहीं। अपने छोटे भाई के लिए तुम्हारा-जैसा सूट बनवाया जाना तक जब तुमसे सहन नहीं होता, तब तुम आखिर रहोगे कहाँ? अगर तुम्हारी यही गति-विधि रही तो एक दिन आश्चर्य नहीं कि तुम भाभी से भी लड़ बैठो।"

चुपचाप उपेन्द्र सब सुनता रहा। अपने ही मानस की थाह लेने के अभि-प्राय से उसने श्यामबिहारी को घर की सारी बातें बतलाई थीं। लेकिन उसने भी उसकी भावनाओं का समर्थन नहीं किया तो उसे आश्चर्य हुआ।

उपेन्द्र कभी-कभी इतना अन्तर्मुखी हो उठता है कि दिन-भर के सारे जीवन-व्यापार दृश्य बन-बनकर उसके सामने आते रहते हैं। एक लड़का साइकिल से गिरकर ट्रक के नीचे आ गया। उसके पैर की हड्डी टूट गई। सड़क पर भीड़

इकट्ठी है। ट्रक जरा देर भी नहीं ठहरा था और लड़का अचेत पड़ा था। साइ-किल भुस हो गई थी। उपेन्द्र थोड़ी देर उस भीड़ के साथ खड़ा रहा। फिर चला आया। बार-बार उसके मन में आता रहा, कम-से-कम उसके घरवालों को इसकी सूचना तो वह दे आता। सर्वथा मूक भाव से वह एकदम स्थिर बना रहा। श्यामबिहारी ने सोचा—'अब यह इतना गम्भीर हो गया है कि इससे बात करना कठिन है।' तब अन्त में उसने कहा—"मेरे विचार से तुमको गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में इण्टरव्यू के लिए जाना चाहिये।"

उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"इस विषय में मुझे तुम्हारे उपदेश की कतई आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ, जिन्दगी उस चमत्कार का नाम है जो पहले तो सर्वोत्तम के सिवा किसी के साथ समझौता नहीं करता, पर अन्त में उसे पाकर ही मानता है।

श्यामबिहारी ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"अच्छी बात है। ओ० के०।" और वह तत्काल मेस्टन रोड से परेड की ओर जानेवाली सड़क पर चल दिया।

कालान्तर में जब उसने सुना कि श्यामबिहारी का चुनाव हो गया और वह स्वयं रह गया, तब उसकी स्थिति और भी चिंत्य हो उठी।

दो सप्ताह हो चुके थे और उसने मंजु को कोई पत्र नहीं लिखा था। वह नित्य सोचता था कि आज अवश्य लिखूँगा, किन्तु जब पत्र लिखने बैठता, तब यही ध्यान आ जाता कि पत्र में लिखूँ क्या? अगर कहीं नियुक्ति हो जाती, तो प्रसन्नतापूर्वक लिखते भी बनता। यह बात मैं कैसे लिखूँ कि एकमात्र नायब-तहसीलदारी मिलने की आस लगाये बैठा हूँ, क्योंकि आई०सी०एस० और पी०सी०एस० तो मैं बन नहीं सका। वह अब दिन-पर-दिन निराशा की ही पीड़ा का अनुभव कर रहा था। अब उसे जान पड़ा, चारों ओर एक सन्नाटे के सिवा कहीं कुछ नहीं है। अंधकार भी उस सन्नाटे को स्थिर रखने में सहायक बन गया है। चन्द्रमा बादलों में छिप जाता है। और बादल भी तो अंधकार से ही प्रतीत हो रहे हैं। चन्द्रमा भी आज मेरी भाँति उदास है। सारा जीवन इस उदासीनता से ओत-प्रोत है।

एक दिन काशीबाबू ने देखा कि उपेन्द्र उदास रहने लगा है। कलावती ने भी अनुभव किया कि आजकल उपेन्द्र दाल में अधिक घी डालने का आग्रह नहीं करता और सुरेन्द्र को प्रतीत हुआ कि दद्दा समय पर न खाना खाते हैं, न बाहर से आकर हम लोगों से कोई बात करते हैं। यहाँ तक कि कान्ति भी सोचने लगी कि दद्दा मन-ही-मन किसी पर अप्रसन्न अवश्य हैं। इधर उन्होंने भाभी की चिट्ठी आने का भी कोई समाचार नहीं दिया।

काशीबाबू सोचने लगे कि जो उपेन्द्र नित्य किसी-न-किसी प्रसंग से तीव्र स्वर में बोल उठता था, वह आजकल भीगी बिल्ली बन गया है। नौकरी न मिलने के कारण ही तो वह इतना उदास नहीं दिखाई पड़ता ? हो न हो, इसके मन में कहीं कोई ग्रन्थि अवश्य है।

तब एक दिन उन्होंने उपेन्द्र से पूछा—"उपेन्द्र बेटे, आजकल तुम इतने उदास क्यों दिखाई पड़ते हो ?"

कुछ चौंकते हुए उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"नहीं तो।"

उत्तर के साथ उसके मुख पर एक कृत्रिम मुस्कराहट दौड़ गई।

चश्मे की कमानी अब ढीली पड़ गई थी। नित्य सोचते थे, किसी दिन इसे ठीक करवाना है। पर फिर भूल जाते थे। उसी चश्मे को नाक पर स्थिर करके काशीबाबू बोले—"इधर बहुत दिनों से श्यामबिहारी भी नहीं आया। कोई विशेष बात जरूर है, जिसे तुम बतला नहीं रहे हो।"

अब भी उपेन्द्र ने यह नहीं बतलाया कि श्यामबिहारी को गवर्नमेंट हाई-स्कूल में नियुक्ति-पत्र मिल गया, जबकि आवेदन-पत्र मैंने भी दिया था। इण्टर-व्यू में भी वह सम्मिलित हुआ था। उत्तर में उसने कह दिया—"हाँ, आया तो नहीं और आया इसलिए भी नहीं कि मैंने उसके घर जाना छोड़ दिया है।"

काशीबाबू बोले—"लेकिन उसके साथ तो तुम्हारी मित्रता बहुत गहरी थी न।"

पिता का यह कथन भी उसके अहम् से जा टकराया। आज वह बाबू से भी मन की बात नहीं कह सकता। कुछ भी कहना उसने उचित नहीं समझा।

सड़क का मकान ठहरा। एक आदमी चार पृष्ठों की एक पुस्तक बेच रहा

था। उसमें छपा हुआ कोई-न-कोई गीत वह गाता हुआ चलता और चौराहे पर खड़ा होकर भीड़ इकट्ठी कर लेता। उसका कण्ठ-स्वर बड़ा मधुर था और गीत की पंक्ति के बोले थे :

'सब दोस्त हैं अपने मतलब के,
दुनिया में किसी का कोई नहीं।'

पिता के पास से हटकर उन्हें कोई उत्तर दिये बिना वह छज्जे पर आकर इसी गीत को ध्यान से सुनने लगा। तीन मिनट के बाद जब वह पुस्तक-विक्रेता आगे बढ़ गया, तब उपेन्द्र लौटकर पुनः काशीबाबू के पास आकर बोला—"बाबू, उस समय मैंने आपको कोई जवाब नहीं दिया था। लेकिन अनुभव ने मुझे बतलाया कि जीवन-संघर्ष में पड़कर मित्रता का निर्वाह सम्भव नहीं है।"

काशीबाबू बोले—"बेटा, मैंने सुना है कि श्यामबिहारी को गवर्नमेंट हाई-स्कूल में नौकरी मिल गई। मगर तुम उदास क्यों होते हो? नौकरी तो तुम्हें पोस्टऑफिस में भी मिल सकती है, मगर प्रारम्भ में हमारे यहाँ वेतन कम मिलता है।"

पिता के इस कथन को न तो उपेन्द्र ने सहानुभूति की दृष्टि से देखा, न उपयोगिता की दृष्टि से। इसके विपरीत, उसके मन में आया, अब इनको मेरा घर पर रहना भी सह्न नहीं है; क्योंकि मैं बेकार हूँ। जब और कुछ न सूझा तो उसने उत्तर दिया—"कम वेतनवाली नौकरी स्वीकार करना मेरे गौरव के अनुकूल नहीं है। मगर आप चिंता न करें, मैं प्रयत्न कर रहा हूँ कि किसी मिल में ही नौकरी कर लूँ। सबेरे आठ बजे अवश्य जाना पड़ेगा, लेकिन वेतन तो अच्छा मिलेगा।"

एक निःश्वास दबाते हुए काशीबाबू बोले—"जैसी तुम्हारी इच्छा!"

अब जाड़े के दिन थे और उपेन्द्र को अपने मिल की नौकरी में प्रातःकाल आठ बजे पहुँचना होता था। कई दिन तक तो छह-साढ़ेछह बजे सबेरे उठकर कलावती ने उपेन्द्र को चाय बनाकर पिला दी, किन्तु एक दिन जब उसको श्लेष्मा के कारण ज्वर हो आया तब वह बोली—"बेटा, आज बदन में बड़ा दर्द हो रहा है।" फिर कुछ कराहती हुई बोली—"मेरे ख्याल से तू अब दुलहिन को ले आ।"

मां की बात सुनकर उपेन्द्र का हृदय स्पंदित हो उठा। उसने सोचा कि अम्मा मेरी सुविधाओं का कितना ध्यान रखती हैं। उसे तुरन्त मंजु का ध्यान आ गया। 'हाँ, सुविधा तो हो ही जायंगी, मानस-लोक की हरएक तह को शान्ति मिलेगी। रुचि का भोजन मिलेगा। लेकिन एक यही बात खटकेगी कि मैंने मिल में नौकरी स्वीकार कर ली है। सपने क्या देख रहा था और जीवन की वास्तविकता क्या है?' फिर एक निःश्वास के साथ उसने सोचा कि अब तक तो श्यामबिहारी को भी मालूम हो गया होगा।

उस दिन चाय कान्ति ने बनाई थी और साथ के लिए हलवा जो बनाया, पानी अधिक पड़ जाने के कारण वह कुछ गीला हो गया था।

उपेन्द्र ने उसे अंगुली से उठाते हुए कहा था—"यह हलवा है कि लपसी?"

कान्ति ने जो सुना तो उसने उपेन्द्र को तो कोई जवाब नहीं दिया, किन्तु जब वह दफ्तर चला गया तो उसने कलावती से कहा—"अम्मा, इतने सबेरे एक तो मुझसे उठा नहीं जाता, दूसरे किसी तरह ऐसे जाड़े में थर-थर काँपती हुई मैं जो उठती भी हूँ और समय पर दद्दा को पूरी, तरकारी या हलवा बना भी देती हूँ, तो वे मीनमेख निकालते हैं। मुझे उनकी यह आदत पसन्द नहीं है।"

कलावती ने इसके उत्तर में इतना ही कह दिया—"आलोचना से डरना नहीं चाहिये बेटी। कोई भी सर्जना हो, खैर सर्जना तो बड़ी कठिन होती है लेकिन निर्माण या उत्पादन ही हो, आलोचना के बिना उसमें उन्नति नहीं होती। खाने-पीने की साधारण चीजें बनाने में भी अगर तुमसे कोई असावधानी हो जायगी तो उसे बतलाना तो पड़ेगा ही।"

उत्तर तो कलावती ने दे दिया, लेकिन वह मन-ही-मन सोचने लगी कि उपेन्द्र सेवा के काम को भी आदेशात्मक ढंग से, हुकूमत से, लेना चाहता है।

उसी दिन जब काशीबाबू गंगास्नान करके लौटे, अरगनी पर उन्होंने अपनी तौलिया और धोती पसार दी। फिर ज्योंही कमरे के अन्दर आये, त्योंही कलावती बोली—"मुझे तो फिर ज्वर आ गया। मुझसे इस जाड़े में इतने सवेरे नहीं उठा जाता। अब तो दुलहिन को बुला ही लो।"

पत्नी की इस बात को सुनकर काशीबाबू मुस्कराते हुए बोले—"सच पूछो

तो दुलहिन को हमें बहुत पहले बुला लेना चाहिए था। अब तो बहाना भी मिल गया। मैं आज महाबीरबाबू को गौना लेने के सम्बन्ध में पत्र लिखे देता हूँ। तुम उपेन्द्र से कह देना कि इस शनिवार को जाकर बिदा करा ले आये।"

कलावती को यह जान कर आश्चर्य हुआ कि ये उपेन्द्र को अकेला ही भेजना चाहते हैं। तब उसने पूछा—"उसे अकेला भेजने में स्टेशन-मास्टर साहब की हेठी तो न होगी ?"

काशीबाबू बोले—"इसमें हेठी की क्या बात है ? ऐसा तो होना ही चाहिये। फिर मुझे छुट्टी भी तो नहीं मिल सकती इतनी जल्दी। साथ सुरेन्द्र चला जायगा।"

सायंकाल साढ़े चार बजे उपेन्द्र दफ्तर से लौटा और दस मिनट के अन्दर ही कपड़े बदलकर, खाने के लिए चौके में जा पहुँचा। कान्ति ने खाना परोस दिया। लेकिन एक तो खाना ठण्डा था, दूसरे आलू-गोभी का साग झोलदार बना था। उपेन्द्र से जब सहन न हुआ तब उसके मुँह से निकल गया—"कान्ति, यह साग है कि जल-कुण्ड ! और तुझसे इतना भी नहीं होता कि खाना ही गरम कर दे।"

कथन के साथ वह बड़बड़ाने लगा—"अगर कोई अड़चन पड़ जाती है तो अम्मा तुमसे भी व्यवस्था करते नहीं बनती ?

इसी समय कालेज से सुरेन्द्र आ पहुँचा। आँगन से ही कहता चला आया—"अम्मा बड़ी भूख लगी है। नाश्ता जल्दी दो। मुझे खेलने जाना है।"

कलावती बोली—"नाश्ता नहीं बना बेटा, कान्ति से रोटी लेकर खा ले।"

सुरेन्द्र जब चौके में पहुँचा तो उपेन्द्र के बगल में पीढ़ा डालकर बैठ गया। पहला कौर ही कटोरी में डुबोकर खाते-खाते बोला—"वाह, क्या सब्जी बनी है ! अम्मा तुम ऐसी सब्जी नहीं बना पातीं !"

कान्ति बोली—"क्या करूँ दद्दा, पानी डालने का अन्दाज तो आया नहीं।"

सुरेन्द्र ने उत्तर दिया—"नहीं-नहीं बहुत अच्छा बना है। नमक का अंदाज बिल्कुल ठीक है।"

केवल दो रोटी खाकर उपेन्द्र उठ आया और आचमन करके गमछे से हाथ पोंछ कर कलावती के पास जा पहुँचा और बोला—"क्या खाना बना है ! बना

नहीं सकती थीं तो देख तो सकती थीं !"

कलावती बोली—"मेरी तबियत का हाल पूछना तो दूर रहा उलटे तू मुझे बातें सुनाने आ पहुँचा ! एक वह भी तो खा रहा है । यह कोई होटल है कि शिकायत करने आ पहुँचा । घर है बेटा घर, और खाना बनानेवाली भी तेरी बहन है बहन, वह भी छोटी । पहले पढ़ाई की, फिर खाना बनाया और समय पर स्कूल गई । आखिर बच्चा ही तो है ।"

उपेन्द्र भुनभुनाता हुआ बोला—"दिन-भर दफ्तर में कलम घिसूँ और दिमाग खाली करूँ । रात में नायब तहसीलदारी की तैयारी करूँ और इधर हाल यह है कि ठीक तरह से खाना भी नहीं मिलता । यह कोई जीवन है ! सच पूछो तो स्वादिष्ट खाना मिलने में ही जीवन की सार्थकता है । नहीं तो जानवर और आदमी में क्या अन्तर रह गया ?"

"बेटा, मैं हमेशा तो बीमार रहूँगी नहीं । आज तुम्हारे बाबू ने गौने के लिए समधीजी को लिख दिया है । अब तू कल ही ससुराल चला जा और गौना कराकर ले आ ।"

उपेन्द्र को मँजु का ध्यान आ गया । 'कौन जाने इस समय वह क्या सोच रही होगी ।'

उसने कहा—"मेरे साथ कौन-कौन जायगा ?"

मन लेने के विचार से कलावती बोली—"तेरे बाबू तो कहते हैं, केवल तुझे ही जाना चाहिये ।"

उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"अकेला तो मैं जाने से रहा ।"

तब कलावती ने कह दिया—"सुरेन्द्र को भी साथ लेते जाना । इतनी जल्दी तेरे बाबू को तो छुट्टी मिलेगी भी नहीं ।"

तत्काल उपेन्द्र अपने कमरे में आकर उसे ठीक तरह से सजाने का कार्यक्रम बनाने लगा । शृंगार-प्रसाधन की सामग्री जो उसने अबतक मंजु के लिए इकट्ठी कर रक्खी थी, वह अपने-आपसे कहने लगा कि उसे वहाँ जाकर देना तो ठीक न होगा । पुलक प्रेरणाओं में विभोर होकर वह फिर पढ़ने बैठ गया ।

महाबीरबाबू स्टेशन के अपने कार्यालय में बैठे हुए टिकटों की बिक्री का हिसाब चेक कर रहे थे। इतने में पोस्टमैन ने आकर नमस्ते की और एक चिट्ठी उनके आगे रखते हुए बोला—"बड़ेबाबू पोस्टमास्टर साहब के साले आये हैं, इसलिए उन्होंने थोड़ा-सा दही और अचार के लिए कहा है।"

महाबीरबाबू बोले—"अरे तो घर से ले क्यों नहीं लिया? मनोहर से जाकर माँग लेना।"

लिफाफे के कवर को पेन्सिल की नोक से चीरते हुए ज्योंही उन्होंने देखा कि काशीबाबू का पत्र है, त्योंही आदि से अन्त तक पढ़कर जेब में रख लिया और टिकटों की बिक्री के उल्लेख पर हस्ताक्षर करते हुए अपने सहायक बुद्धनारायण की ओर उन्मुख होकर बोले—"ज़रा घर जाता हूँ बुद्धनारायण तुम देखना।" और तिजोरी में ताला लगाकर चाभी जेब में डालकर घर जा पहुँचे।

प्रेमा आँगन में धूप में बैठी हुई वायल की साड़ी में बेल टाँक रही थी। इसी समय धूप में लेटी-लेटी मंजु जो उठी तो प्रेमा बोली—"तेरा ब्लाउज मैंने सी दिया है। पहनकर देख तो ले। चुस्त तो नहीं हो गया?"

इसी समय महाबीरबाबू ने अन्दर आकर कहा—"लो मंजु की माँ, मैंने कहा न था कि फागुन नहीं आने पायेगा, पोस्टमास्टर साहब मंजु को अवश्य बुला लेंगे। तुम्हारे कुँवर साहब शाम की गाड़ी से आ रहे हैं। साथ में छोटा भाई सुरेन्द्र भी होगा। खैर काम तो किसी तरह चल ही जायगा मगर इस बार ज्यादा मुँह न लगाना।"

"मंजु के बाबू, हमीको इस मामले में दोष न दिया करो। जो मन में आये वह करो। मंजु तुम्हारी, दामाद तुम्हारा। मैं यह थोड़े ही कहती हूँ कि घर लुटा दो। आगे-पीछे देखकर चलने में ही बड़ाई होती है। मंजु का गौना दोबारा तो होने से रहा और दामाद भी रोज-रोज नहीं आता।"

"ठीक है; मगर गौना लेने के लिए महीने-दो-महीने पहले से लिखना था। ऐसा कहीं नहीं होता है कि अभी गौने की चिट्ठी आई और नवाब लोग शाम को आ धमके! मजाक समझ रक्खा है, मेरा मन तो होता है कि तार दे दूँ, गौना अभी हो नहीं सकता!"

स्वामी की बात सुनकर प्रेमा पहले तो कुछ न बोली; क्योंकि जो तर्क उन्होंने

दिया था, वह अपने-आपमें यथेष्ट था। इसलिए उसने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"मन्दिर की नींव का मुहूर्त्त महीने-दो-महीने आगे के लिए नहीं टाल सकते ?"

"हाँ, नहीं टाल सकता। इष्टदेवता की पूजा और सेवा के लिए जिस संकल्प का सूत्रपात हो चुकता है, उसमें फिर देर करना उचित नहीं होता।"

"अच्छी बात है। तुम कुछ न करना। मैं सब प्रबन्ध कर लूँगी। अब इस आयु में बहुत गहने पहनकर मैं क्या करूँगी ! मेरी शोभा बढ़ जायगी ? दो-तीन चीजें निकल भी जायें इसी बहाने, तो भी कोई खास कमी नहीं आयेगी।"

"यहीं पर तुम बहुत गलती कर रही हो मंजु की माँ। तुम समझ नहीं रहीं हो इस बात के महत्त्व को। देने के लिए हमारे पास कोई कमी नहीं है। सारा कार्यक्रम शान्ति के साथ निपट सकता है, लेकिन अगर इस बार भी उसने मुझको दुहने की चेष्टा की, तो उसकी ओर से मेरा मन सदा के लिए गिर जायगा। कभी मेरा मन होगा तो वहीं जाकर मंजु को देख आऊँगा, लेकिन यह पसन्द न करूँगा कि मेरी देहरी पर फिर कभी उसका पैर दिखाई पड़े।"

स्वामी की यह बात प्रेमा के मर्म को छू गई। तब उसने धीरे-से कह दिया—"नहीं-नहीं, ऐसा कुछ मत सोचो मंजु के बाबू। कुछ भी हो, अभी बच-पना है। हमेशा ऐसा थोड़े ही रहेगा। फिर अपना दामाद है। मगर एक बात अभी से कहे देती हूँ कि उसके मुँह पर ऐसी कोई बात मत कहना, जो उसे खल जाय।"

"कभी-कभी जब तुम पुरखिन बनकर बात करती हो, तो मेरे मन का सारा उत्साह नष्ट हो जाता है। तुम्हारे कहने का मतलब तो यह हुआ कि परिवार-संचालन का तुमको मुझसे अधिक ज्ञान है। अच्छा मानता हूँ, तुम बड़ी ज्ञान-वती हो। तुम्हीं बात कर लेना। मैं कुछ न कहूँगा।"

मंजु खड़ी-खड़ी सब सुन रही थी। उसके भी मन में आया कि स्वामी ने बाबू के मन पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं छोड़ा। लेकिन ऐसा भी तो हो सकता है कि अधिक वाचाल होने के कारण उनको बाबू ने सही दृष्टिकोण से न देखा हो। केवल रुपये-पैसे के सम्बन्ध को लेकर उनके सम्बन्ध में ऐसी धारणा बना लेना भी तो उचित नहीं है कि वे अनुचित दबाव डालती हैं।

इतने में महाबीरबाबू ने कहा—"मैं यह चिट्ठी सुनाने आया था। अब मैं जाता

हूँ। जो तैयारी करनी हो, कर लेना।"

महाबीरबाबू के जाते ही मंजु प्रेमा के पास आ पहुँची और बोली—"अम्मा, यों ही तुमने मुझको काफी गहने दे रखे हैं। अब और देने की बात कहती हो तो मुझको बड़ा दुःख होता है। ऐसा करोगी तो मनोहर की दुलहिन को गहने देने के बाद तुम्हारे पास क्या बचेगा? नहीं-नहीं, यह सब ठीक नहीं है अम्मा।"

"वाह, ऐसा कहीं होता है! लेन-देन का सारा व्यवहार अवसरपर ही शोभा देता है। तुझे मालूम नहीं, वे सब करेंगे। बात की बात है, जरा-सा चिढ़ गये थे। मुझे सुना रहे थे; क्योंकि उनकी समझ में मैं दामाद का बहुत पक्ष लेती हूँ।"

इन बातों के परिणामस्वरूप मंजु सोचने लगी कि यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि एक ओर उनकी सभी लोग प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर बाबू दोष लगाते हैं कि बड़ा लोभी और ठग है। पैसे को लेकर उनके लिए ऐसा सोच लेना सरासर अन्याय है; क्योंकि पैसा तो सभी को प्यारा होता है। अगर बाहरी आमदनी न होती, तो मेरे विचार से वह मुँह भी न खोलते। ध्यान से देखा जाय तो दोष दोनों का है।

यह प्रसंग यहीं समाप्त हो गया। प्रेमा ने छुटकू खलासी को बुलाकर बाजार के प्रसिद्ध हलवाई रम्मा को अपने साथ ले आने का आदेश दे दिया।

छुटकू बोला—"बहूजी, मुझे अभी-अभी मालूम हुआ कि बिटिया के गौने के लोग आने वाले हैं। उसी के लिए शायद...।"

"हाँ-हाँ रे छुटकू। और देख, मोतीलाल श्रोतीलाल की दुकान पर जाना और कहना कि बड़े बाबू के घर में याद किया है। बढ़िया किस्म का ऊनी सूट का कपड़ा और शाल पसन्द करने के लिए भेज दें। और बड़ेबाबू से कहना कि पाँच-पाँच सेर बढ़िया मेवा छोटेबाबू को भेजकर मँगवा दें।"

सास और ससुर से मिलकर उपेन्द्र जब मंजु से मिला तो मंजु ने बताया कि पिछली बार जब तुम आये थे तब जिस ढंग से तुमने अपनी बिदाई जबर्दस्ती वसूल की थी, उसका अम्मा और बाबू पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। अम्मा तो कुछ नहीं कहतीं, बल्कि मौके पर तुम्हारा पक्ष ही लेती हैं, लेकिन बाबू को तुम्हारी

अधिक-से-अधिक रुपया ऐंठने की नीति से चिढ़ हो गई है।

"कुछ कहते थे क्या ?"

"हाँ, कहते थे।"

"क्या ?"

"कहते थे कि लेन-देन की सारी प्रथाएँ भावना की भूमि से चलती हैं, सामर्थ्य के अनुसार ही भेंट और उपहार दिये जाते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि अपनी पसन्द और अभिरुचि का दावा भी लेनेवाला ही कहीं उपस्थित करता हो। लेकिन तुम्हारा ढंग तो यह रहा कि जिस कपड़े के लिए तुमने कहा था कि यह तो आफ़िस के छोटे-मोटे बाबुओं के लायक है, अफसरों के लायक नहीं। उसी को बाद में तुमने स्वीकार कर लिया। और अच्छे सूट की रकम अलग से ले ली। रुपया हमारे यहाँ स्टेशन के घेरे में लगे हुए वृक्षों की डालों पर तो फलता नहीं।"

"तुमने जवाब क्यों नहीं दे दिया कि यह तो उनका अधिकार है।"

"उनका कहना है कि ऐसा कोई अधिकार नहीं। ये सारी प्रथाएँ इच्छा और सुभीते पर निर्भर करती हैं।"

"अच्छी बात है, चाचाजी से मैं कल ही निपट लूँगा।"

"इसका मतलब तो यह हुआ कि तुम उनसे लड़ोगे। मेरे विचार से इस विषय में उनसे लड़ना तुम्हारे लिए उचित न होगा।"

परिस्थिति की गुरुता ही नहीं, भविष्य की नीति की कल्पना करता हुआ उपेन्द्र मन-ही-मन स्थिर दृढ़ होकर कुछ आवेश के ढंग से बोला—"अच्छी बात है। मैं कुछ नहीं कहूँगा। तुम देख लेना, मैं एक शब्द भी नहीं कहूँगा। लेकिन इतना अभी से बताये देता हूँ कि अधिकार की शक्ति कैसी विकट होती है, अवसर आने पर चाचाजी को इसका अनुभव कराये बिना मानूँगा नहीं।"

"मेरा विचार ऐसा नहीं है। तुम्हारे कुछ न कहने पर भी उतना तो वे अपने मन से कर ही देंगे, जितना करने का संकल्प अम्मा और उन्होंने कर लिया है।"

"अच्छी बात है, यही तय रहा।"

"नाराज मत हो। बिगड़ो नहीं। इस बार मेरी बात मानकर देखो।"

"मान ली मैंने तुम्हारी बात। इस बार के बाद अब यहाँ आता कौन है ? वे

बुलायेंगे तो भी मैं नहीं आऊँगा ।"

"जरा-सी बात में सम्बन्ध तोड़ दोगे ?"

"इसको तुम जरा-सी बात कहती हो ! यह मेरे मान का प्रश्न है, अर्थ का प्रश्न है और अधिकार का तो सबसे बड़ा प्रश्न है । साल में आठ-दस हजार रुपये ऊपर से पैदा करने वाले ने अगर पाँच सौ रुपया दे ही दिया, तो क्या दिया ! सो भी माँगने पर। ऊपर से तुर्रा यह कि मैं लालची हूँ । मुझे आश्चर्य यह है कि मेरी इतनी बुराई तुमसे सहन कैसे हुई ! पतिप्राणा नारी होकर स्वामी की बुराई सुनना तुमसे गवारा कैसे हुआ !"

"देखो, मुझसे इतनी बड़ी आशा मत करो कि ब्याह होते ही मैं अब तुम्हारा पक्ष लेकर अम्मा और बाबू से लड़ना शुरू कर दूँ । फिर ये बातें तो आज ही हुई हैं। पहले होतीं तो क्या मैं तुमको लिखती नहीं ! मगर अब नाश्ता तो करो। यह गुझिया मैंने तुम्हारे लिए खासतौर से बनाई है।"

"अच्छा, तुम्हारे कहने से नाश्ता किये लेता हूँ। हलाँकि क्रोध तो ऐसा आ रहा है कि अभी इसी वक्त तुमको साथ लेकर चल दूँ । मुझको न पैसे की जरूरत है, न किसी सामान की।"

"हाय राम ! तुम यह क्या कहने लगे ! अम्मा सुन लें तो क्या कहें ?"

"मुझे किसी की परवाह नहीं, जो चाहें सो कहें। जहाँ मान का प्रश्न होगा, वहाँ मुझे झगड़ा करना ही पड़ेगा। जहाँ अधिकार का प्रश्न होगा, वहाँ उसकी रक्षा के लिए मैं जान दे दूँगा। आगे बढ़ता हुआ मैं पीछे घूमकर कभी नहीं देखता। मैं टूट सकता हूँ, झुक नहीं सकता।"

चाय बनाती हुई मंजु ने उपेन्द्र के इस कथन पर कुछ भी ध्यान न देते और मुस्कराते हुए कहा—"चाय में ढाई चम्मच चीनी लेते हो न ? क्योंकि ढाई अक्षर...।"

उपेन्द्र बोला—"सुरेन्द्र आ रहा है !"

सुरेन्द्र ने अपने कमरे से पुकारा—"भाभी, एक कप चाय का अधिकारी तो मैं हूँ ही। अभी सात नहीं बजे हैं। ऐसे जाड़े में चाय का जो एक प्याला मिल जायगा तो मुझे भी उसकी गरमाहट में पढ़ते हुए अच्छा लगेगा।"

उपेन्द्र नाश्ता करता हुआ बोला—"एक प्याला चाय उसे दे आओ।"

मंजु एक प्याला चाय लेकर ऊपर सुरेन्द्र के कमरे में जा पहुँची।

सुरेन्द्र तपाक से बोला—"आइये आदरणीय मंजुमुखी, भाभीजी, गरमा-गरम चाय के एक प्याले के लिए हजार-हजार धन्यवाद।"

फिर प्याला हाथ से लेकर उसने कहा—"बैठिये, बैठिये, तशरीफ रखिये। निवेदन यह है कि आपने इतना कष्ट क्यों किया! मुझी को आदेश दिया होता तो मैं स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित हो जाता।"

मुस्कराती हुई मंजु बोली—"अच्छा-अच्छा कविजी महाराज। चाय पीकर प्याला खाली करो तो जाऊँ।"

सुरेन्द्र चाय की चुस्की लेता हुआ बोला—"वाह क्या बात है! चाय क्या है, अमृत है।" मंजु ने कंधों पर शाल डाल रक्खी थी। उसे सम्हालती हुई वह बोली—"इतनी प्रशंसा मत करो कि मुझे कुछ और सोचना पड़े।"

खाली प्याला वापस करते और मुस्कराते हुए सुरेन्द्र बोला—"दूधन नहाओ पूतन फलो।"

"अच्छा, बछिया के ताऊ। अब ज्यादा दिन नहीं लगेंगे। आने दो देवरानी को।" इतना कहकर मंजु वापस लौटने लगी।

सुरेन्द्र ने उत्तर दिया—"मगर बछिया का ताऊ क्यों? मैं तो बछवा का चाचा बनूंगा, चाचा।"

मंजु प्लेट और प्याला हाथ में लिये सावधानी से सीढ़ी उतरती हुई नीचे पहुँची, तो कलावती की दृष्टि उस पर जा पड़ी। तब वह बोली—"ऐसे मे ऊपर नहीं चढ़ा करते बहू। सुरेन्द्र को यहीं बुला लिया होता।"

इतने में उपेन्द्र रूमाल से मुँह पोंछता हुआ आँगन में आ गया और बोला—"अच्छा भई मैं तो चला। साढे सात बज गये।"

सायंकाल उपेन्द्र जब वेतन लेकर आया तो सबसे पहले उसने सब-के-सब रुपए काशीबाबू की ओर बढ़ाते हुए उनके पैर छू लिये। आश्चर्य से काशीबाबू बोले—"अच्छा, आज सात तारीख है। कितना वेतन मिला?"

"साठ रुपये हैं बाबू ।"

"पहला वेतन है इसलिए पहले तो दो-दो रुपये सुरेन्द्र, कान्ति और बहू को दे दो और दो-दो रुपये पूर्णिमा, बुआ और मौसी को भेज दो मनीआर्डर से। सवा रुपये का प्रसाद चढ़ा दो हनुमानजी का और बाकी तुम रख लो।"

उपेन्द्र बोला—"बाबू, इस झंझट में मत डालो। खुद ही जैसा चाहो करो।"

काशीबाबू ने रुपये लेकर कलावती की ओर बढ़ा दिये।

कलावती ने सुरेन्द्र, कान्ति, उपेन्द्र और बहू सबको दो-दो रुपये दे दिये और दो-दो रुपये प्रत्येक के हिसाब से बुआ, पूर्णिमा और मौसी के लिए भेजने के हेतु काशीबाबू को दे दिये। फिर सवा रुपया प्रसाद का निकाला और सुरेन्द्र को देते हुए कहा—"जाओ, बेसन के लड्डू ले आओ।"

इसके अनन्तर जो रुपये बचे उसको बहू की कोंछ में डालते हुए कहा—"भगवान् करे, तुझे किसी बात की कमी न रहे।"

मंजु रुपये लेकर सास के पैर छूने लगी तो उपेन्द्र जो अबतक खड़ा-खड़ा देख रहा था बोला—"अम्मा, खाना।"

दो मिनट बाद खाना खाने के लिए जब वह पीढ़े पर बैठ रहा था, तब उसके मन में आया कि जब बाकी रुपये मंजु को लौटाने ही थे, तो दो-दो रुपये सबको बाँटने का क्या महत्त्व हुआ? हाँ, प्रसाद बाँटने की बात और है। उस पर मुझे कोई आपत्ति भी नहीं है। खैर, इस अवसर पर मुझे कुछ बोलना भी नहीं चाहिए।

खाना खाने के बाद उपेन्द्र अपने कमरे में चारपाई पर लेट गया तो पाँच मिनट के भीतर ही उसे नींद आ गई। मंजु पास ही बैठकर पान लगाने लगी। दो पान उसने अपने मुँह में रख लिये चार पान उसने पनबसने में लपेटकर रख दिये।

अब सायंकाल के सात बज रहे थे। इतने में उपेन्द्र उठकर बैठ गया और मेज पर लगी हुई बिजली की बत्ती का स्विच दबाकर तहसीलदारी के पिछले तीन वर्षों के प्रश्न-पत्र देखने लगा। फिर देर तक सम्बन्धित ग्रन्थ पढ़ते और पन्ने उलटते हुए जब नौ बज गये तो उसने देखा कि मंजु पास की चारपाई पर पड़ी-पड़ी सो गई है। तब वह उठा और खूँटी पर टंगे हुए गरम कोट को

पहनकर द्वार तक आया। एक बार सोचा, 'कहूँ कि न कहूँ'।

मकान से लगी हुई एक गली थी, जो दस मकानों के बाद पी० रोड से मिल गई थी। अब भी कभी-कभी मोटर-गाड़ियों का हार्न सुनाई पड़ जाता। छज्जे पर खड़ा हुआ वह वातावरण के इस मिश्रित गुंजन को ध्यान से ग्रहण करता रहा। नीचे जो हलवाई बैठता था, उसकी पत्नी बहुत स्थूलकाय थी और उसका पाँच वर्ष का बच्चा अत्यन्त दुर्बल और रुग्ण था। जब कभी उसे औषध दी जाती, तब वह रोता-रोता रें-रें करने लगता।

उपेन्द्र के मन में आया—'हम सब रोगी हैं। आज ही मेरा वेतन मिला और दस-बारह रुपये उससे निकालकर इस तरह बाँट दिये गये कि मैं चूँ भी न कर सका। पाँच बजे मैंने भोजन किया और अब साढ़े नौ बजते-बजते मुझे थोड़ी भूख लग आई। घर में दो सेर दूध आता है, क्या उसमें से आधा सेर दूध मुझे इस समय अलग से नहीं मिल सकता है। अनुरोध करने की शैली में बलमात्र होना चाहिये।'

फिर प्रश्न उठा—'कहूँ कि न कहूँ।' उसे ऐसा मालूम हुआ कि हरएक दीवार के बीच में मेरी ही मुखाकृति का एक मुखौटा लगा हुआ है और जिधर दृष्टि डालो उधर ही वह उच्च-स्वर में बोल रहा है—अधिकार ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर भी तुम अगर चुप रहते हो, तो मिस्टर उपेन्द्रनाथ तुम पूरे कायर हो, भीरु हो। और तुम जो तहसीलदार बनने का स्वप्न देखते हो, कायर और भीरु होने के नाते इस पद के सर्वथा अयोग्य हो।

एकाएक दृढ़ता के साथ पैर बढ़ाते हुए उपेन्द्र अपनी माँ के पास जा पहुँचा। उस समय उसके बाबू भगवद्‌गीता का तिलक-भाष्य पढ़ रहे थे। एक बार फिर उसके मन में आया—'तीर अवसर पर तरकस से निकाला जाता है। युक्ति भी अवसर आने पर ही सफल होती है। बाबू के सामने मुझे यह बात नहीं कहनी चाहिये। खैर कोई हर्ज नहीं, कल सही।

दूसरे दिन जब वह दफ्तर से लौटा तो वह सीधा माँ के पास आकर बोला—

"अम्मा, एक बात कहना चाहता हूं।"

"कहो।"

"मैं दफ्तर से लौटकर जब घर आता हूँ, उस समय साढ़े चार बजते रहते हैं। यह कोई खाने का वक्त है ? या तो मुझे बढ़िया नाश्ता मिलना चाहिये या आध सेर दूध। पर यह तभी सम्भव है जब मैं आठ बजे भोजन करूँ, जिससे नौ-दस बजने तक मुझे पुनः भूख न लगे।"

"तो बेटा तुम अपने लिए चाहे तो नाश्ता ले आया करो या अलग से दूध लेना शुरू कर दो।"

माँ का उत्तर सुनकर उपेन्द्र स्तब्ध हो उठा। कोई भी उत्तर न देकर वह अपने कमरे में लौट आया। क्षोभ और आवेश में पड़कर वह कमरे में इधर-से उधर टहलता हुआ सोचता रहा...हूँ। नौकरी मिल जाने के बाद वेतन मिलते ही, अम्मा का मेरे साथ सौत के लड़के का-सा व्यवहार, जबकि मैं ज्येष्ठ पुत्र हूँ, घर में अधिक-से-अधिक सुविधा पाने का पूर्ण अधिकारी !

९

भवितव्यता कभी-कभी ठगिनी जैसा अभिनय किया करती है। मनुष्य तो अपनी आशा के अनुरूप कल्पना के ताने-बाने बुनने में लगा रहता है लेकिन वह उसकी कार्य-सिद्धि में प्रच्छन्न रूप से कतरनी चलाती रहती है।

उपेन्द्र ने चेष्टा तो बहुत की, किन्तु जब वह नायब तहसीलदारी की परीक्षा में भी सफल सिद्ध नहीं हुआ, तो उसके हृदय को बड़ा आघात लगा। यह आघात उतना भीषण न होता यदि श्यामबिहारी इस प्रतियोगिता में सफल न होता। किन्तु उसने प्रत्यक्ष देख लिया कि मनुष्य अपना कर्तव्य ही पूरा कर सकता है। सफलता मिलना या न मिलना उसके हाथ में नहीं है।

कई बार कई प्रकार से उपेन्द्र के मन में आया कि ऐसा हो नहीं सकता। भवितव्यता वास्तव में कोई वस्तु है नहीं। मनुष्य को अपने पुरुषार्थ किंवा कृतित्व का फल

मिलना ही चाहिये। किन्तु अपने इस परीक्षाफल को देखकर उसकी मान्यता एकदम से बदल गई। वह सोचने लगा कि कुछ नहीं है जी, सारा खेल भाग्य का है। यों तो मैं कह सकता हूँ कि अगर मैं विवाह न करता तो ऐसा कुछ न होता, कोई शक्ति मुझे आई० सी० एस० बनने से रोक न सकती थी। किन्तु फिर तुरन्त कोई उसके भीतर से बोल उठता—'पर तुम विवाह करते कैसे नहीं ? भवितव्यता ही ऐसी थी कि पहले तो तुम विवाह को रोक नहीं सकोगे। फिर आई० सी० एस०, पी० सी० एस० और तहसीलदारी ही नहीं; नायब तहसीलदारी की परीक्षा में भी उत्तीर्ण न होंगे। समझ गये ? न समझ पाये हो तो भेजे में कील ठोंककर समझाऊँ !'

उसका सिर भन्ना उठा—'ऐसा कभी हुआ नहीं था। ऐसा तो मैं कभी सोच भी नहीं सकता था। मेरे साथ ईश्वर की ईश्वरता ने भी कुछ उठा नहीं रखा। उसने कहीं मुझे खड़ा नहीं होने दिया। पर यह कितना उत्तम हुआ कि मैंने मिल की नौकरी स्वीकार कर ली। लेकिन यदि बाबू-अम्मा अपना रुख न बदलते, तो मैं, हो सकता है, यह नौकरी भी न करता। क्या मतलब ? तो घूम-फिरकर यही जान पड़ता है कि जो कुछ हुआ, वह अपने आप हुआ, मेरे प्रयत्न का उसमें कोई हाथ नहीं रहा। अर्थात् भवितव्यता ही प्रबल होती है, मनुष्य कुछ नहीं कर पाता।'

एक निःश्वास !...'अच्छा भाई, जो कहो, वही ठीक है।'

रात इसी चिंतन में कट गई। फिर जब चार बजने को हुए, तो मंजु ने कराहना प्रारम्भ कर दिया। उपेन्द्र तब माँ के पास जा पहुँचा—'अम्मा—अम्मा!'

कलावती एकाएक चौंक पड़ी। वह झट से उठ बैठी और बोली—"क्या बात है उपेन्द्र !"

उपेन्द्र बोला—"जरा उधर जाकर देखो, जान पड़ता है तुम्हारी बहू .."

आगे उपेन्द्र कुछ न कह सका।

अब कलावती जो मंजु के पास पहुँची, तो उसने बताया—' अम्मा, दर्द बहुत हो रहा है।"

कलावती सब समझ गई। मुस्कराती हुई वह स्वामी के पास जा पहुँची।

काशीबाबू तबतक उठ चुके थे। कलावती बोली—"अब बैठे क्यों हो ? दाई को झट से बुला लाओ।"

और चार घण्टे बाद यानी पाँच ऐप्रिल को काशीबाबू को बाबा कहनेवाला उत्पन्न हो गया।

दिनभर उमंग, उत्साह, आनन्द, विनोद, पास-पड़ोस के इष्ट-मित्रों और सम्बन्धियों के आवागमन और उनको मिठाई-शरबत खाने-पिलाने में व्यतीत हो गया। फिर जब रात को स्त्रियों ने मिलकर ढोलक बजाई और सोहर गाये जाने लगे, तो उपेन्द्र मन-ही-मन मुस्कराता हुआ सोचने लगा—'चलो, दूसरी परीक्षा में तो भगवान् ने सफल बना दिया।'

धीरे-धीरे प्रसन्नता, मनोविनोद और उसके उन्माद का वातावरण जब शान्त होने लगा तब बारहवाँ दिन आ पहुँचा। काशीबाबू अपने इष्ट-मित्रों को दावत देने के लिए सूची बनाने बैठे तो उपेन्द्र ने पास आकर कहा—"बाबू...मैं सोचता हूँ कि अपने दफ्तर के साथियों को भी दावत के लिए कह दूँ।" और फिर सिर खुजलाते हुए बोला—"उत्तम तो यही होगा कि निमन्त्रण-पत्र छपवाकर बाँट दूँ।"

"बरही के प्रीतिभोज का निमन्त्रण पत्र छपवाओगे?"

"बात यह है कि बाबू, मुँह से कहने में मुझे अच्छा नहीं लगता। निमन्त्रण-पत्र छपा हुआ पायेंगे तो फिर कहने की जरूरत नहीं पड़ेगी।"

"मगर ऐसे हैं कितने आदमी?"

"भला बीस से क्या कम होंगे?"

आश्चर्य के साथ काशीबाबू बोले—'बीस! और फिर आफिस के बाबू, जो बात-बात में मीन-मेख लगायेंगे: 'बरफ में ठंडे किये हुए दशहरी आम भी यार तुमने नहीं खिलाये। कुल्फी-मलाई वाला दरवाजे से निकला, फिर भी तुम टाल गये। पूरी-तरकारी खिलाकर अन्त में पान खिला दिये।' खाने-पीने का इतना बड़ा प्रबन्ध तो हमारे घर-पर सम्भव है नहीं।"

अपनें इष्ट-मित्रों को खिलाने के सम्बन्ध में पिता का एकदम से हाथ खींच लेने का यह विचार सुनकर उपेन्द्र को फिर यह सोचने का अवसर मिला कि वे मेरे सम्बन्ध के हर काम में कंजूसी करने पर तुल गये हैं। उत्तर में वह यह कहने जा ही रहा था कि बाबू आपको पता नहीं कि वे लोग हमारे कितने पीछे पड़े हुए हैं।

इतने में काशीबाबू बोले—"अब चादर देखकर तुम्हें पैर पसारना चाहिये।

ऐसा ही है तो उनको किसी रेस्तराँ में बैठालकर चाय-वाय पिला दो। दावत देने में तो वड़ा खर्च पड़ जायगा।"

उपेन्द्र ने हिसाब लगाकर देखा, तो बीस आदमियों को चाय-वाय पिलाने में साधारण रूप से दस नहीं तो सात आठ रुपये लग जाते हैं। तब उसे कहना पड़ा कि अच्छी बात है, ऐसा ही करूँगा। लेकिन जब उनको चाय पिलाने का अवसर आया तो इष्ट-मित्रों ने आग्रह कर-करके उसे इतना तंग किया कि आठ के बजाय पन्द्रह रुपये व्यय हो गये। रेस्तराँ से बाहर निकलकर जब वह घर लौट रहा था तब उसने जो अपनी जेब टटोली तो क्या देखता है कि कोई दस आने पैसे बचे हैं!

उसी दिन संयोग से श्यामबिहारी उसके घर आ पहुँचा। सामने पड़ते ही जब उसने उपेन्द्र को बधाई दी तो वह संकुचित हो उठा। हाईस्कूल में नौकरी प्राप्त करने की प्रतियोगिता में जब श्यामबिहारी विजेता हुआ था, तब उपेन्द्र ने न तो उसे बधाई दी थी और न उसको बधाई का कार्ड ही भेजा था। अतः भीतर से लज्जित होते हुए भी वह ऊपर से हँसता और मुस्कराता अपनी लाज छिपाता हुआ बोला—"अच्छे आये, मैं आज तुम्हारे घर जाने ही वाला था।"

"छोड़ो इस प्रसंग को। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि ईर्ष्या विनोद का गला घोंट देती है और द्वेष आत्मीयता के स्वर्ग में आग लगा देता है। पहले मैं ऐसा कुछ नहीं जानता था। लेकिन जीवन ने मुझे सब-कुछ बतला दिया। इसीलिए अपने सारे स्वाभिमान को भूलकर तुमको बधाई देने आया हूँ कि तुम्हारे साथ तो मेरा उलाहना उचित भी हो सकता है, लेकिन उस बच्चे ने मेरा क्या बिगाड़ा है, जो दो बरस बाद ही मुझे चाचा कहना शुरू कर देगा?"

स्पर्द्धाशील व्यक्ति के आगे यदि सम्बन्धित बच्चों के प्यार के नाते को आत्मीयता के साथ उत्पन्न कर दिया जाय, तो दुष्ट व्यक्ति भी क्षण-भर के लिए साधु बन सकता है। कालिदास का कथन है कि महात्मा लोग चाहे जितने क्रोधी हों, एक बार उनको प्रणाम कर लो, तो उनकी सारी क्रोधाग्नि शान्त हो जायगी।

बच्चे के प्यार की बात सुनकर उपेन्द्र ने उत्तर दिया, "तुम विश्वास न करोगे भाई, जब से देवेन्द्र पैदा हुआ है, मैं अपने जीवन-युद्ध की पराजय सर्वथा भूल गया हूँ। यों मैं ज्योतिष पर कम विश्वास करता था। पर अपने आचार्य

पण्डित जयराम त्रिवेदी से यह सुनकर मैं दंग रह गया कि मैं अपने कृतित्व से भले ही भाग्यशाली न बन सका, किन्तु देवेन्द्र के कारण एक-न-एक दिन मैं अवश्य बड़भागी कहलाऊँगा !"

उसने झट सुरेन्द्र को पास बुलाकर चाय बनवाने का आदेश दे दिया। दस मिनट बाद जब श्यामबिहारी के लिए सुरेन्द्र चाय ले आया तब उपेन्द्र आश्चर्य से बोला—"अरे बिस्कुट नहीं ले आये !"

सुरेन्द्र कहने ही जा रहा था कि बिस्कुट तो,..!

तब उपेन्द्र ने कह दिया—"अपनी भाभी से क्यों नहीं मांग लिये ?"

एक दिन पूर्व सुरेन्द्र के कई मित्र एकाएक आ गये थे। उनके स्वागत-सत्कार में मंजु के पास रक्खा हुआ बिस्कुट का पैकेट बहुत-कुछ समाप्त हो गया था। फिर प्रातःकाल जब उपेन्द्र चाय पीने बैठा, तब शेष बचे बिस्कुट भी उपयोग में आ गये थे। उपेन्द्र ने पैकेट को खाली होते देखा था, इसलिए मंजु ने दफ्तर से लौटते समय बिस्कुट का पैकेट लाने की बात स्वामी से नहीं कही थी। सुरेन्द्र जब खड़ा ही रह गया, उसने स्पष्ट नहीं बतलाया कि बिस्कुट भाभी के पास हैं नहीं, तब उसने स्वयं अन्दर जाकर मंजु से पूछा—"महीनों बाद अवसर पाकर श्यामबिहारी मुझे बधाई देने आया है। और तुमने कोरी चाय उसके लिए भेज दी ! वह अपने मन में क्या कहता होगा ?"

देवेन्द्र अपने हाथ-पैर उठाता-गिराता खेल रहा था। मंजु उसको पलने में झुलाती जा रही थी। स्वामी की बात पर उसने केवल इतना कह दिया—"बिस्कुट का पैकेट तो आज सबेरे ही समाप्त हो गया था और तुमने देखा भी था।"

"देखा तो था, मगर मेरी समझ में नहीं आता कि इस बार बिस्कुट का पैकेट इतनी जल्दी कैसे उड़ गया !"

उत्तर में मंजु बोली—"कल सुरेन्द्र के कई मित्र आ गये थे। बीस बिस्कुट तो उन्हीं की चाय में देने पड़े थे।"

आश्चर्य से उपेन्द्र बोला—"बीस बिस्कुट ! तो क्या दस आदमी थे ?"

'दस तो नहीं थे। थे तो पाँच ही, बल्कि चार; पाँचवाँ सुरेन्द्र स्वयं था। मगर अच्छी चीज खाने में किसको बुरी लगती है ?"

"मगर तुमको तो सोच-विचार कर बिस्कुट देने चाहिये थे !"

"ऐसे अवसरों पर हाथ सिकोड़ना मुझे नहीं आता ।"

"तुमको तो नहीं आता । मगर तुमने देखा नहीं, बाबू कितने बदल गये हैं ! यह सब खर्चा जो मुझको करना पड़ रहा है, वास्तव में उन्हींको करना चाहिये था ।"

मंजु ने उत्तर दिया—"अब तुम उनको दोष नहीं दे सकते । सच पूछो तो उन्होंने अपनी शक्ति से कुछ अधिक ही किया है ।"

"अधिक तो क्या किया है, बेगार टाली है ।"

उपेन्द्र और मंजु में जब ये बातें हो रही थीं तब सुरेन्द्र भी उस कमरे के द्वार तक आ चुका था । यों साधारण रूप से छिप कर बात सुनना उसका स्वभाव न था, किन्तु वह यह जानना चाहता था कि देखें दद्दा मेरे सम्बन्ध में क्या कहते हैं; क्योंकि जिन मित्रों को बिस्कुट दिये गये थे, वे उनके नहीं मेरे थे ।

उपेन्द्र चिक उठाकर जो वाहर आया, तो उसे यह भासित होते देर न लगी कि सुरेन्द्र मेरी बातें सुन चुका है । उसे कुछ बुरा तो लगा, लेकिन श्यामबिहारी की उपस्थिति में उच्च-स्वर से बोलकर सुरेन्द्र की भर्त्सना करना उसने उचित नहीं समझा । अब उसकी जेव पूर्णरूप से रिक्त हो चुकी थी । अतः उसने पुनः मंजु के पास लौटकर पूछा—"तुम्हारे पास कुछ रुपये तो नहीं पड़े हैं ?"

मंजु ने उत्तर दिया—"केवल दो रुपये बचे हैं ।"

उपेन्द्र बोला—"लाओ एक रुपया दे दो ।"

मंजु से एक रुपया लेकर सुरेन्द्र को देते हुए कहा—"चार आनेवाला छोटा पैकेट ले आओ ।" फिर जब वह बैठक में आकर श्यामबिहारी के पास जा बैठा तो उसने देखा कि वह उठकर खड़ा हो गया है और कह रहा है—"अच्छा । बहुत-बहुत प्यार बच्चे को । यह दो रुपये उसे दे देना ।"

"तो चलो, तुम्हीं दे दो चलके ।

श्यामबिहारी ने उत्तर दिया—"भगवान् करे उसकी बहुत बड़ी उमर हो । दो वर्ष हुए हमारे भाई साहब के जब बच्चा हुआ था तभी अम्मा ने कह दिया था कि माँ के दूध पीने वाले बच्चे को बाहर नहीं निकाला जाता; इसलिए भाई, अब उसको प्यार करने का अवसर तो हम तभी पायेंगे, जब वह अपने पैरों

चलने लगेगा।"

उपेन्द्र सोचने लगा- -'रूढ़िवादी विचारों की यह परम्परा न जाने कब समाप्त होगी !'

१०

फिर एक दिन ऐसा भी आ गया जब उपेन्द्र ने अनुभव किया कि अब इस घर में मेरा रहना ठीक नहीं है। मेरी इच्छाओं और महती आकाँक्षाओं का इस घर में कोई मूल्य नहीं। अम्मा, बाबू और सुरेन्द्र—यहाँ तक कि कान्ति भी मुझसे भेद-भाव मानती है। बाबू उस दिन कपड़े लाये। देवेन्द्र के लिए बड़ी मुश्किल से एकाध कपड़ा और खेलने के लिए चटुलिया और बन्दर मात्र ले आये। सुरेन्द्र के लिए दो कमीज और दो पैण्ट के कपड़े ले आये। मेरे लिए न सही, मंजु के लिए क्या ब्लाउज का एक भी कपड़ा नहीं ला सकते थे ? आजकल दूध मेरे यहाँ सेर-भर आता है। पाव-भर तो चाय में खर्च हो जाता है। आध सेर मंजु और देवेन्द्र और एक पाव में मुझे क्या होता है ! कल मैंने कान्ति से कहा कि चाय के लिए हमारे यहाँ दूध ही नहीं बचा। तुम अपने यहाँ से पाव-भर न सही आध-पाव दूध दे जाओ। मेरा इतना कहना था कि कान्ति ने झट-से कह दिया—'हमारे यहाँ दूध कहाँ से आया !' तात्पर्य यह कि देवेन्द्र का उत्पन्न होना न अम्मा को अच्छा लगा, न बाबू को। तब उसने मंजु से पूछा—"तुम्हारा क्या विचार है ?

"कैसा, किस सम्बन्ध में ?

उपेन्द्र ने कहा—"इस घर में रहने से क्या लाभ ?—लाभ न भी हो तो मोह तो होना चाहिए। पर मोह भी क्या ? जब लोग इसे दुर्भाव मानते हों। मक्खनबाबू के यहाँ से कल पाँच सेर दूध आया था। अम्मा ने उसका खोया बना डाला। यह सोचकर कि होली निकट है, अम्मा से थोड़ा खोया ही ले

लेंगे। हमने इनसे खोया देने की चर्चा की, तो बोलीं कि वह तो खतम हो गया। मैंने गुझियाँ बना डालीं। क्या इससे यह स्पष्ट व्यक्त नहीं होता कि लोग अब मेरे भाग के अधिकार को भी नहीं मानते। जहाँ देखो, वहाँ इसी बात की चर्चा हुआ करती है कि अम्मा को मैं वेतन में से एक पाई भी नहीं देता, जबकि वास्तविकता यह है कि उन्होंने स्वयं लेना स्वीकार नहीं किया। कल जो मैं श्यामविहारी के यहाँ तिलक में गया, तो वह कह रहा था कि देवेन्द्र के जन्म होने पर बाबू को कुछ रुपया इधर-उधर से लेना पड़ा था। अगर बाबू ने स्वयं यह बात किसी से कही नहीं है, तो श्यामविहारी के घर में कैसे पहुँची? अब अगर मैं स्वयं इस घर से अलग नहीं होता, तो एक-न-एक दिन अम्मा और बाबू, सुरेन्द्र की जरा-सी शह पाकर मुझसे अलग रहने के लिए भी कह देंगे। इससे तो यह ही अच्छा होगा कि मैं स्वयं अलग हो जाऊँ।"

मंजु बोली—"यह तुम्हारा अन्याय है और अन्याय किसी को फलता नहीं, चाहे जो हो। देखती हूँ, तुम्हारा सोचने का ढंग ही विचित्र है। तुम्हें मालूम होना चाहिये कि जो अन्याय करता है, वह उस आदमी की अपेक्षा कहीं अधिक संकट में पड़ता है जो बिना बोले या रोये उसे सहन कर लेता है।"

अब उपेन्द्र को किसी का उपदेश या नीति-कथन कभी कोई प्रेरणा न दे पाता था।

अतः पत्नी को कुछ बताते हुए उसने कहा—"यह तुमने बहुत अच्छा किया, जो मुझको भी उपदेश देना शुरू कर दिया!"

देवेन्द्र को गोद में लिये दूध पिलाती हुई मंजु बोली—"मुझे कभी इससे बहस नहीं रहती कि तुम मेरी बात मानोगे या नहीं। और मुँह पर प्रशंसा करना मेरा स्वभाव भी नहीं। इस अवसर पर मैं तो इतना ही कहना चाहती हूँ कि जब वे तुमसे वेतन की एक पाई भी नहीं माँगते, तब तुमको उलाहना देने का अवसर ही कहाँ रह जाता है?"

"वेतन ले लेने से मैंने मना तो किया नहीं, तुमको मालूम है पहली बार जब मुझे वेतन मिला था, मैंने उन्हीं के हाथ में दिया था।"

मंजु बोली—"इससे क्या होता है? खाना तो वह तुम्हें खिलाते ही हैं।"

"जैसा खाना खिलाते हैं मैं जानता हूँ। उस दिन मैंने घी माँगा तो अम्मा

कान्ति से बोली—'जाओ, भाभी से ले आओ।' एक दिन घर से घी दे भी देतीं, तो उनका कुछ घट जाता ?"

हो सकता था, यह बात अभी और चलती, किन्तु इसी समय उसे सुरेन्द्र ने बतलाया—"दद्दा, आज बाबू को ज्वर बड़े वेग से आ गया है।"

"क्या कहा, ज्वर आ गया है बाबू को ? चलो मैं चलता हूँ।"

उपेन्द्र सुरेन्द्र के साथ जो काशीबाबू के पास पहुँचा, तो उसने क्या देखा कि वे सचमुच आँखें मूँदे हुए प्रलाप कर रहे हैं—"उपेन्द्र ने मुझसे पूछा तक नहीं कि पुखरायाँ के हाईस्कूल की अध्यापकी के लिए आवेदन-पत्र भेजूँ कि नहीं। उसकी प्रबन्धकारिणी समिति के अध्यक्ष मुझसे पूछ रहे थे। पूछ क्या रहे थे—अहसान दिखा रहे थे कि मैंने उनकी नियुक्ति का आदेश दे दिया है। अच्छा तो है, उसके सभी मनोभाव धीरे-धीरे मेरे सामने आ गये।"

उपेन्द्र ने सुना कि एक निःश्वास लेकर वे कह रहे हैं—"बहुत अच्छा है कि मुझे जीते-जी संसार की सारी कुरूपता और कुटिलता, अविश्वास और कृतघ्नता का भी थोड़ा-बहुत पता चल जाय। उपेन्द्र की माँ, तुम्हीं ज़रा इस बच्चे को समझाओ कि वह मेरे जीते-जी तो यह घर न छोड़े !"

उपेन्द्र ने देखा, पिता आँखें बन्द किये पड़े हुए हैं। रह-रहकर निःश्वास लेते, कराहते हुए करवटें बदलते और कभी-कभी बड़बड़ा उठते हैं। तब उसने कह दिया—"बाबू, आप यह क्या कह रहे हैं ?"

"यह कौन बोल रहा है ? यह स्वर तो मेरे उपेन्द्र का जान पड़ता है।"

"हाँ बाबू, मैं ही हूँ। मगर आप यह क्या कह रहे हैं...?"

इतने में डॉक्टरसाहब आ गये। उपेन्द्र उधर उन्मुख होकर बोला—"आइये डॉक्टरसाहब, इधर निकल आइये।"

डॉक्टरसाहब ने पहले काशीबाबू का तापमान लिया। बोले—"अब तो सिर पर बर्फ के ठंडे पानी की पट्टी रखनी पड़ेगी। पेंसलीन नाम का एक इन्जेक्शन नया निकला है। देखो शायद मार्केट में मिल जाय। पैंतीस रुपये लगेंगे, मगर वैसे मैं एक मिक्सचर का भी प्रिस्क्रिप्शन लिखे देता हूँ। इन्जेक्शन अगर मिल जाय, तो मुझे बताना, मैं लगा जाऊँगा। रक्तचाप भी कुछ बढ़ा जान पड़ता है।"

इतना कहकर डॉक्टरसाहब जब बाहर आये, तो उपेन्द्र चक्कर में पड़ गया। 'बाबू को गुप्ताजी की ज़रा-सी बात सहन नहीं हुई। जबकि मैं उनका भेदभाव...'

उसे यह सोचकर चिंता तो हुई कि उनका हृदय बड़ा ही कोमल है। लेकिन फिर दूसरे दिन काशीबाबू का ज्वर शान्त हो गया और तीसरे दिन उनको मूँग की दाल भी खाने को मिल गई। धीरे-धीरे वह अच्छे होने लगे, तब उपेन्द्र सारी बातें पुनः उसी ढंग से सोचने लगा। 'उनके कहने या बकने से क्या होता है! मुझे तो अपने भविष्य का निर्माण स्वयं करना है। मुझे देवेन्द्र का भी भविष्य देखना है। अम्मा से इतना भी तो नहीं हो सका कि वर्षगाँठ के दिन दूध पिलाते समय उसे सोने की एक जंजीर ही बनवाकर पहना देतीं। जबकि इसका उसे जन्मसिद्ध अधिकार था। कहीं कुछ नहीं है। जीवन में अगर कोई प्रश्न है, तो वह है स्वार्थ—केवल स्वार्थ—स्वार्थ के सिवा और कुछ नहीं।"

इस चिंतन का फल यह हुआ कि नियुक्ति-पत्र आ जाने के अनन्तर उपेन्द्र ने पुखरायाँ के हाईस्कूल में गणित का अध्यापन कार्य स्वीकार कर लिया।

जब ताँगे में उसका सारा सामान लद गया और माँ के चरणों का स्पर्श करके मंजु के साथ वह पीछे की सीट पर बैठने लगा, तब कान्ति और कलावती द्वार की सीढ़ी पर खड़ी हुई थीं। सुरेन्द्र उसके पास साइकिल लिए खड़ा था। सबकी आँखों में आँसू थे। उनके कंठ गीले हो रहे थे। कान्ति कह रही थी—"भाभी, हमारी चिट्ठियों का जबाब जरूर देना।" और सुरेन्द्र कह रहा था—"दद्दा, मैं ऐसा कुछ नहीं जानता था।" वह आँसू पोंछता जाता था और सिसकियाँ लेता जाता था। जब ताँगा चल पड़ा, नाइन लोटे में चवन्नी डलबाकर लौटने लगी, तब आँखों में आँसू भरे गीले कण्ठ से कलावती बोली—"देखो उपेन्द्र, जाते तो हो, मगर मुन्ना को कोई तकलीफ हुई तो मुझे बड़ा दुःख होगा। अपना हाल-चाल लिखते रहना। और बहू तुम...तुम भी मुझे भूल न जाना।"

टोलेवाले, पास-पड़ोस के लोग आपस में फुसफुसाने लगे। बोले—"शादी होने के बाद अभी दो ही वर्ष तो हुए हैं और उपेन्द्र काशीबाबू से अलग हो गया! छोटे भाई-बहिन भी कुछ न हुए। बलिहारी है इस जमाने को!"

बहुतेरे लोगों ने ये बात सुनीं। सब यही कहते रहे—"घर-घर यही लीला है। कोई कहे भी तो क्या कहे!" एकाध महाशय यह भी कहने लगे—"उपेन्द्र को कुछ तो कष्ट होगा ही। उसे न होगा, तो उसकी दुलहिन को होगा।"

तब एक प्रौढ़ नारी ने भीतर से कह दिया—"हाँ, ठीक तो है। दुलहिन को भी न होगा, तो उस बच्चे को होगा जो अभी कल पैदा हुआ है!"

काशीबाबू जब पोस्टआफिस से लौटकर आये और उन्होंने उपेन्द्र के चलेजाने का समाचार सुना, तो कोई भी प्रतिक्रिया प्रकट किये बिना उन्होंने कलावती को निकट बुलाकर कहा—"सुनती हो, जरा यहाँ आओ।" इसके बाद वे बैठक में आकर पलंग पर लेट गये। कलावती उनके निकट आकर रो पड़ी।

काशीबाबू बोले—"रोने की जरूरत नहीं, इस संसार की सारी लीला देखने के लिए हृदय को वज्र-सा कठोर बनाने की जरूरत है। भगवान् ने यह सारा जगत् इतना गुण-दोषमय बनाया है कि इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। मेरे गुरु आचार्य जगन्नाथ कहा करते थे कि हम जगत् को नहीं बदल सकते मगर इस जगत् के प्रति अपना एक दृष्टिकोण तो स्थिर कर ही सकते हैं। तो अब मेरा विचार यह है कि अगर हम अपना दृष्टिकोण स्थिर रख सकें तो यह संसार भी एक दिन बदल जायगा। हम नहीं, तो हमारी संतान इसे बदलकर मानेगी।...बहुतेरी बातें हैं, जिन्हें तुम नहीं समझ पाओगी।"

अब काशीबाबू का स्वर बीच-बीच में कम्पित हो उठता था। वाणी कभी-कभी रुक जाती थी। थोड़ी देर बाद उन्होंने एक निःश्वास लेते-लेते कहा—"अपने को क्या? जहाँ रहे सुखी रहे। अपने कर्तव्य का पालन करती चलो, फिर जो होता है होता रहे।"

कलावती ने आँसू पोंछ लिये और कहा—"हाँ, बोलो, क्या कहते हो?"

काशीबाबू ने बतलाया—"मैंने आज कान्ति का विवाह तय कर दिया।"

"चलो, यह बहुत अच्छा हुआ।"

इसके बाद काशीबाबू कलावती को कान्ति के ससुरालवालों का घर-वर, रूप-सम्पदा, धन, धान्य सम्बन्धी सम्पन्नता का सारा विवरण बतलाते रहे। अन्त में उन्होंने कहा—"मैं चाहता था कि उपेन्द्र भी इस लड़के को एक बार देख आता

लेकिन अब तो वह बात ही नहीं रही।"

इसके बाद वह चुप हो गये। कलावती को भी इस बात का दुःख था कि उपेन्द्र ने इस बुढ़ापे में मेरा साथ छोड़ दिया। बारम्बार वह यही सोचती थी कि हम लोगों की आत्मीयता उसके लिए उतनी आवश्यक नहीं, जितनी उसकी अपनी उन्नति; सो भी केवल वैयक्तिक ढंग और प्रयत्न से।

काशीबाबू लेटे-लेटे करवटें बदल रहे थे। कलावती ने कान्ति से नाश्ता भिजवा दिया था। नाश्ता करते-करते वे एकाएक पूछ बैठे—"तुम्हारी अम्मा ने उपेन्द्र और बहू को आज के खाने के लिए कुछ बना दिया था कि...?"

कान्ति बोली—"इतनी पूरियाँ बना दी थीं, जो कल तक चलेंगी। आलू परवल का साग और साथ में अचार।" काशीबाबू फिर कुछ नहीं बोले।

अब काशीबाबू का हृदय टूटने लगा था। अकेले में बैठकर या रात में लेटे-लेटे जो कभीअपने जीवन का विहगालोकन करते तो एकाएक कई प्रकार की पीड़ाएँ एक साथ फूट पड़तीं। 'इस उपेन्द्र को मैंने कितने कष्ट के साथ पाल-पोसकर बड़ा किया। लेकिन विवाह होते ही इसका मन बदल गया। हर बात में अपना महत्त्व, स्वाभिमान और अधिकार की स्थापना इसका स्वभाव बन गया। इसमें इतनी हठधर्मी आ गई कि जो यह कहे या जो चाहे, घर में बस वही हो। इस निरंकुशता की कोई सीमा है! मैंने कहा, पोस्टआफिस में भी नौकरी मिल सकती है, लेकिन उसमें इतना अहंकार कि बोला, कम वेतन वाली नौकरी तो मैं करूँगा ही नहीं। मगर उसके इस उत्तर के भीतर एक भेद भी था। हो सकता है कि उसके मन में आया हो कि जहाँ मेरे पिता का सर्वाधिक अधिकार है, वहाँ मैं एक साधारण क्लर्क की हैसियत से रहना क्यों स्वीकार करूँ? जिस समय ये बातें हुई थीं उस समय तो समस्या के इस रूप का आभास नहीं मिला था, लेकिन फिर चलते समय इसने मुझसे मिलना भी स्वीकार नहीं किया!'

फिर उन्हें याद आया, 'देवेन्द्र जरा-जरा-सा चलने भर लगा। यहाँ तक कि दौड़ते हुए गिर-गिर पड़ता था। कभी मैं जो गोद में ले लेता, तो ऐसा जान पड़ता था कि मैं अपने भविष्य-रूपी खिलौने से खेल रहा हूँ।'

सोचते-सोचते उन्होंने सुरेन्द्र से कहा—"जरा अपनी अम्मा को तो भेजना बेटे!"

कलावती जब निकट आई तो काशीबाबू बोले—"आज कुछ अच्छा नहीं लग रहा है उपेन्द्र की माँ ! बहू की विदा वाले दिन के बाद वह न कभी मेरे निकट आया और न उसने कभी मुझसे कोई बात की। अच्छा तो अब मैं तुम्हीं से पूछता हूँ कि मैंने इसके साथ क्या किया, जिसका यह परिणाम हुआ कि वह तुम्हें छोड़कर चला गया ?"

कलावती पहले तो चुप रही। फिर उसने उत्तर दिया—"तुम अब इस मोहमाया में बहुत मत पड़ो उपेन्द्र के बाबू। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये आपस के झगड़े कभी दूर नहीं होंगे। तुम मनुष्य की तृष्णा को, उसकी छोटी-बड़ी और महान् इच्छाओं को, और फिर उनसे पैदा होनेवाले आपसी तनाव को कैसे रोक सकोगे ?"

"नहीं-नहीं, तुम समझीं नहीं, उपेन्द्र की माँ।" काशीबाबू अपना समाधान खोजते हुए बोले—"मैं केवल यह जानना चाहता हूँ कि तुमने तो उसे कभी कोई कड़वी बात नहीं कही ! हो सकता है, बहू से तुमने कभी कुछ ऐसा कह दिया हो जो उसे बुरा लगा हो।"

"मेरी बहू ऐसी नहीं। वह तो इतनी सीधी-सादी, भोली-भाली, सुकुमार और दुलारी है जिसकी तुलना नहीं। उसका वश चलता तो वह इस घर की देहली के बाहर पैर न रखती। लेकिन तुम अपना मनोबल क्यों घटा रहे हो ? जो कुछ और जितना भी उचित है वही सब करते जाने पर भी अगर किसी का मन नहीं भरता, तो इसके लिए तुम करोगे क्या ? और कर ही क्या सकते हो ?"

"हाँ, यह तो तुम ठीक कहती हो उपेन्द्र की माँ। मैं तो यों ही पूछ रहा था तुमसे। कभी-कभी तो मेरे मन में आता है कि मैं तुमको साथ लेकर अब इस घर को ही छोड़ दूँ। हरद्वार, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, प्रयागराज या काशी कहीं भी जाकर रहूँ और भगवान् का नाम लेते-लेते इस देह-धर्म से मुक्ति पाऊँ। बस, एक ही कर्तव्य मेरा रह गया है। सो उसका पालन भी किये देता हूँ।"

फिर करवट बदलते हुए उन्होंने इतना और कहा—"जाने क्या बात है, आज कुछ अच्छा नहीं लग रहा है मुझे। यानी बिल्कुल अच्छा नहीं लग रहा है यह संसार मुझे। एक दिन था, जब तुम इस घर में आई थीं, तब संसार मुझे कितना

मधुर और मनोरम दिखाई देता था। एक दिन था जब उपेन्द्र पैदा हुआ था, तब हमारे दरवाजे पर मियाँ इकरामअली खुद आकर शहनाई बजाने लगे थे। और आज एक दिन यह है कि उपेन्द्र बहू और मुन्ना को लेकर मुझसे अलग हो गया...जरा सुरेन्द्र को बुलाना।"

कान्ति पास खड़ी थी। कलावती ने उससे कह दिया—"भैया को बुला ला बिटिया।"

पाँच मिनट में सुरेन्द्र सामने था।

काशीबाबू बोले—"अपने फूफा, मौसा, पूर्णिमा दीदी, कुन्दनबाबू और हाँ उपेन्द्र को भी पत्र लिख दो—लिख दो कान्ति का तिलक जानेवाला है। दस मई तक जरूर आ जायँ। एक बार सब लोगों को आँगन में बैठाकर प्रेम से खिला लूँ मुन्ना को गोद में लेकर। और फिर कान्ति का ब्याह कर दूँ। उसके बाद फिर...उसके बाद फिर।' कहते-कहते काशीबाबू एकाएक रुक गये। "बस सुरेन्द्र, मुझे यही कहना था। बड़ी रात हुई, सोओ जाकर। तुम भी जाकर सोओ उपेन्द्र की माँ। मुझे अपने में खो जाने दो, खो जाने दो!"

सुरेन्द्र चला गया। कलावती ने स्वामी के हाथ-पर-हाथ रखते हुए पूछा—"तुम्हारी तबियत तो ठीक है?"

काशीबाबू एक निःश्वास के साथ बोले—"जो कुछ है, ठीक है।"

बहुतेरी आशंकाएँ केवल मोह के कारण अन्तर्मन में जगह बना लेती हैं। जो व्यक्ति अधिक प्यारा होता है, दृष्टि के सामने से एकाएक हट जाने पर उसके सम्बन्ध में ऐसी भी कल्पनाएँ मन-ही-मन आती-जाती हैं, जो उस व्यक्ति की कुशल क्षेम के प्रति एक भ्रम उत्पन्न कर देती हैं। यही बात घूम-फिर कर बार-बार मन में उठती गिरती रहती है कि कौन जाने अब उसकी तबियत कैसी है। कलावती बोली—"उपेन्द्र के बाबू, अगर उपेन्द्र के चले जाने के कारण कुछ अधिक दुःख हो रहा हो, जिसको तुम सहन न कर पा रहे हो, तो अभी बता दो मुझे! मैं खुद जाकर उसे और बहू को लिवा लाऊँगी। मैं उसे डाँटकर कह दूँगी कि ब्याह मैंने किया है और मुन्ना मेरा है। उस पर तुम्हारा कोई हक नहीं है, कोई हक नहीं है। उसको अलग रहना है तो रहे। बहू और मुन्ना हमारे घर में रहेंगे।"

काशीबाबू थोड़ी देर रुके, फिर आर्द्र कंठ और सजल नयन होकर उन्होंने कह दिया—"नहीं-नहीं, उपेन्द्र की माँ...तुमको इस बात का थोड़ा-सा भी ज्ञान नहीं है कि यह मनुष्य के अपने अधिकार का प्रश्न है, अधिकार का।" फिर झट-से सजग होकर उन्होंने आँसू पोंछ डाले और कह दिया—"जाओ, जीवन-दर्शन के इन कटीले तारों को तुम नहीं लाँघ पाओगी।"

कलावती उनके कमरे से चली गई और काशीबाबू कमरे में इधर-से-उधर देर तक टहलते रहे।

काशीबाबू की बीमारी का कुछ ऐसा क्रम चल रहा था कि वे कठिनाई से दो दिन अच्छे रह पाते थे। जब कभी डॉक्टरसाहब आते तो उनसे यही कहते कि अब आप चिन्ता करना छोड़ दीजिये। सच पूछिये तो आपको कोई रोग नहीं है। अगर चिन्ता न करें, पूरी नींद सो लिया करें, तो आपका स्वास्थ्य बढ़ भी सकता है। रह गई धन-सम्पदा की बात, सो आपके पास किसी बात की कमी तो है नहीं और अब तो आपको अवकाश ग्रहण करने का भी अवसर आ गया।

"आ क्या गया डॉक्टरसाहब मैंने ही अवकाश ग्रहण कर लिया। मगर यह चिन्ता न करने की बात जो आपने कही मेरी समझ में पूरी उतरी नहीं; क्योंकि भगवान् ने जैसा मनुष्य का मन बनाया है...।"

डॉक्टरसाहब बहुत विचारशील व्यक्ति थे। और काशीबाबू को तो वे अपने अन्यतम मित्रों में एक मानते थे। अँधेरे कमरे में बिजली के पंखे के मन्द पवन का मृदुल स्पर्श ग्रहण करते हुए जब वे काशीबाबू को धीमे-धीमे थहा-थहाकर बोलते हुए सुनते. तो उनको ऐसा जान पड़ता जैसे कोई महात्मा प्रवचन दे रहा हो। मन्द-प्रकाश का बन्द कमरा उनको अपनी शान्त और नीरव स्थिति में भी बड़ा ही सजीव और शान्तिकारक लगता था।

अब काशीबाबू ने कहा—"मैं यह कह रहा था कि भगवान् ने मनुष्य का मन जैसा बनाया है उसको अगर आप ध्यान से देखें, तो आप इसी प्रश्न पर आकर टिक जायेंगे कि उसका चिन्तन कभी रुक सकता है? आप भी कमाल करते हैं डॉक्टर-साहब। रोगी को कुछ खाने न दीजिये और यह कहते जाइये कि किसी तरह की

कमजोरी अनुभव मत करो !"

डॉक्टरसाहब काशीबाबू की ओर ध्यान से देखने लगे। काशीबाबू बोले—"आपको पता नहीं, उपेन्द्र को मैं कितना प्यार करता था। आज इस अवस्था में मैं जो अपने को इतना असहाय देख रहा हूँ, उसके मूल में मेरा उपेन्द्र है। मगर अब इस बात ने एक समस्या का रूप धारण कर लिया है। मैंने अभी कहा न कि मेरा उपेन्द्र ! मगर वास्तविकता यह है कि उपेन्द्र मेरा नहीं है और जब उपेन्द्र को मैं एक उदाहरण के रूप में लेता हूँ तो अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि मेरा कोई नहीं है। आप कहते हैं डॉक्टरसाहब कि चिंता न कीजिये। आप लोग भी कमाल करते हैं।"

डॉक्टरसाहब कुछ सम्भ्रम में पड़ गये। वे कुछ उद्विग्न हो उठे। कोई उत्तर उनसे देते न बना। पंखा सिर पर फर-फर चल रहा था। दोनों हाथों से कुर्सी के हत्थे पकड़कर उसे पीछे खिसकाया, फिर बाहर की ओर खुलने वाले द्वार की साँकल खोली। एक कपाट को जरा-सा पीछे हटाया। फिर आगे बढ़ने के स्थान पर काशीबाबू की ओर घूमते हुए कहने लगे—"आपका प्रश्न अपनी जगह पर ठीक हो सकता है और आपकी चिंताधारा को भी मैं बिलकुल स्वाभाविक मानता हूँ। लेकिन अगर आप अधिक बोलना बन्द नहीं करेंगे तो मेरे इलाज का आपके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।"

इतना कहकर डॉक्टरसाहब जब चले गये तो काशीबाबू ने फिर पुकारा—"अरे सुनती हो उपेन्द्र की माँ ?"

चिन्ताओं में डूबी, उद्विग्न, किन्तु अपने कर्त्तव्य से सावधान कलावती पास आ गई और बोली—"कहो, डॉक्टरसाहब क्या बतला गये ?"

"कोई नई बात तो उन्होंने कही नहीं। इतना ही कहा कि मैं चिंता करना छोड़ दूँ।"

"फिर ?"

"फिर मैं यही सोचता हूँ उपेन्द्र की माँ कि मेरी चिंता तो तुम हो, मैं तुमको कैसे छोड़ दूँ, बोलो ? मैं तुम्हीं से पूछता हूँ, उपेन्द्र तुमको छोड़कर चला गया। मैं भी तुमको छोडकर चला जाऊँ—जा सकता हूँ ?"

काशीबाबू की यह बात सुनकर कलावती अपनी आत्मा से फूटी रसवन्ती अश्रुधारा न रोक सकी ।

प्रकृति की बहुतेरी बातें बड़ी अनोखी होती हैं । कोई नहीं जानता कि कौन किसके कितने निकट और दूर है । तीन दिन बाद रात को ग्यारह बजे लखनऊ से आये कुन्दनबाबू, पूर्णिमा । फिर तीन बजे आये उपेन्द्र के मामा । सवेरा होते-होते उपेन्द्र के मौसा, फूफाजी और मंजु के साथ उपेन्द्र स्वयं भी साथ-ही-साथ आ गया ।

प्रातःकाल के जलपान की तैयारी हो रही थी । कान्ति नाश्ता बना रही थी कि मंजु वहाँ आ पहुँची और बोली—"रानी बिटिया, लाओ मैं बना दूँ, तुम इधर निकल आओ ।"

कान्ति बोली—"ऐसा ही है, तो यह हलवा तुम बना लो, मैं चाय बनाये लेती हूँ ।"

थोड़ी देर में जब सब लोग नाश्ते और जलपान से छुट्टी पाकर एक साथ बैठे, तो मूल समस्या पर विचार होने लगा ।

जब उपेन्द्र ने सुना कि कान्ति के तिलक में थारा, थान, हल्दी, सुपारी, पाँच प्रकार की मिठाइयाँ, तीन-चार प्रकार के फल, श्रीवर को देने के लिए एक गिन्नी और एक हजार रुपये दिये जा रहे हैं तो वह चुप न रह सका और बोला—"मैं शिष्टाचार की पूरी गरिमा के साथ यह निवेदन करना चाहता हूँ कि बदलते हुए जीवन-मूल्यों को देखकर लड़की की शादी में इतना रुपया बरबाद करना मैं कदापि उचित नहीं समझता । जो कुछ आपको देना है, वह लड़की के नाम बैंक में जमा कर दीजिये । मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखता । आज के युग में अर्थ का बड़ा मूल्य है । कान्ति को जब आवश्यकता पड़े, तब वह इस निधि से जितना रुपया चाहे सहर्ष निकाल ले, तब तो दहेज की प्रथा का कुछ अर्थ समझ में आता है । अन्यथा मैं इसके पक्ष में नहीं हूँ, बिलकुल नहीं हूँ । और मेरा तो यह भी मत है कि बाबू जब तक अच्छे न हो जायें, कान्ति का तिलक स्थगित कर दिया जाय । सृष्टि की रचना के इस रहस्य को कोई नहीं जानता

कि कब क्या होनहार है। अगर इस बीच बाबू की तबियत ज्यादा खराब हो गई तब...आप लोगों ने कभी सोचा है, तब क्या होगा ? मुझे तो पूरी आशंका है कि तिलक में भेजी हुई यह रकम कहीं फंस न जाय।"

कलावती किवाड़ की ओट में खड़ी-खड़ी सब सुन रही थी, बोली—"उनकी बात में दखल मत दो उपेन्द्र, बहुत हो चुका। । अब तो वही होगा जो वे चाहेंगे। तुम्हें मालूम होना चाहिये कि इस घर के एकमात्र स्वामी होने के नाते वे सर्वाधिकारी हैं।"

उपेन्द्र कुछ नहीं बोला सिवा इसके कि—"अच्छी बात है, आप लोग जैसा चाहें वैसा कीजिये।"

फूफाजी बोले—"सब काम बड़े बाबू की राय से होना चाहिये।"

मौसाजी ने कहा—"मैं भी यही चाहता हूँ।"

और कुन्दनबाबू ने कह दिया—"चाचाजी का अधिकार ही सबसे बड़ा है और मेरी समझ से अब कान्ति की शादी में किसी प्रकार का विलम्ब अभीष्ट नहीं है।"

इतने में मामाजी बोल पड़े—"मैंने तो पहले ही कह दिया था कि यह विवाह इसी लगन में होगा और समय पर तिलक हमको भेजना ही पड़ेगा।"

इधर ये बातें धीरे-धीरे चल रही थीं, उधर उपेन्द्र अपने पिता के पास जाकर बोल रहा था—"बाबू, आप अपने स्वास्थ्य को नहीं देख रहे हैं ? जब मैं यहाँ से गया था तब आप कितने भले-चंगे थे। लेकिन दो ही महीने बाद आप कितने अशक्त और दुर्बल हो गये हैं ! ऐसी रुग्णावस्था में अगर आप कान्ति के विवाह के झंझट में पड़े तो मैं कह नहीं सकता कि आप पर क्या बीतेगी !"

"कुछ नहीं बीतेगी बेटा, मेरा कोई भी अनिष्ट नहीं होगा। जब समय आया मैंने तेरा ब्याह कर दिया। विरोध में मैंने किसी की कोई बात नहीं सुनी। तेरी भी बात नहीं सुनी। विधि के इसी विधान से मैं चाहता हूँ कि कान्ति का विवाह भी निर्विघ्न सम्पन्न हो। यों भी अपनी तो मैं कभी कुछ चिंता करता नहीं। और अगर कुछ हो भी जाय, तो भगवान् की इच्छा और उसकी अनिर्वचनीय लीला को कौन रोक सकता है भला ?"

उपेन्द्र पिता की बात सुनकर अन्तर्मुखी हो गया। उसके मन में आया, 'सच-मुच वे बड़े दुर्बल पड़ गये हैं। ऐसी दशा में उनसे तर्क करना उचित न होगा।'

इतने में सुरेन्द्र जो वहाँ दिखाई पड़ा तो काशीबाबू ने पूछा—"अन्दर क्या हो रहा है?"

सुरेन्द्र ने उत्तर दिया—"सब लोग बैठे हुए तिलक के सम्बन्ध में बातें कर रहे हैं।"

काशीबाबू उठकर बैठ गये और बोले—"यह ठीक है कि मैं अशक्त हो गया हूँ, अधिक चल-फिर नहीं सकता, मगर इसका यह अर्थ कभी मत लगाना कि मेरा मनोबल घट गया है, या मैं मर गया हूँ, मेरी आत्मा का स्वर सदा के लिए शान्त पड़ गया है, मूक बन बैठा है। मैं मर भी जाऊँ फिर भी शादी यहीं होगी और इसी लगन में होगी। जाओ, अभी आचार्यजी को बुलाओ और तिलक भेजने की तैयारी करो।"

उपेन्द्र ने देखा कि अब इस घर में वास्तव में मेरा कोई अधिकार, कोई मूल्य नहीं रह गया। मेरी उचित सलाह भी इस वातावरण में व्यर्थ हो जाती है। कोई उस पर विचार करने तक को तत्पर नहीं होता।

उन्मन, गम्भीर और मूक-स्तब्ध उपेन्द्र खड़ा-खड़ा मुँह लटकाये सोचता रहा।

अंत में काशीबाबू की इच्छा के अनुसार उपेन्द्र ने जब देखा कि कान्ति के विवाह का तिलक संस्कार होने जा रहा है, तब उसने सोचा कि एक बार सुरेन्द्र से भी बात कर ली जाय तो उत्तम हो; क्योंकि अब थोड़ी देर में सुरेन्द्र चला ही जायगा। आचार्य महोदय जायेंगे और साथ में नाई; तो उपेन्द्र सुरेन्द्र के पास जाकर बोला—"तुम शायद यह सोचते होगे कि तिलक भेजने के विषय में मैंने जो पिताजी के मन्तव्य का विरोध किया, उसकी पृष्ठभूमि में मेरा कोई निहित स्वार्थ है?"

'निहित स्वार्थ की बात मैं नही सोचता दद्दा। लेकिन मेरी जगह पर कोई दूसरा होता, तो वह भी ऐसा ही सोचता, क्योंकि मुझे कुछ ऐसा जान पड़ा आप विरोध के लिए विरोध करते हैं। शायद आपको भ्रम हो गया है कि जो कुछ आप सोचते हैं उसके सिवा और सब अनुचित है, गलत है।"

"यहाँ पर तुम समझो गलत समझ रहे हो सुरेन्द्र ! मेरी समझ में नहीं आता कि जब वे बीमार हैं और इतने अधिक बीमार हैं कि भगवान् न करे कुछ अनिष्ट हो। लेकिन जान तो ऐसा ही पड़ता है कि अब वे अधिक चलेंगे नहीं। अब तुम्हीं सोचो, अगर उनके जीवन को कुछ हो ही गया तो परिस्थिति कितनी भीषण हो जायगी ! पहले तो हम उनका संस्कार करेंगे, फिर उसके बाद साल-भर के भीतर हँसी-खुशी का कोई मंगलकार्य हो नहीं पायेगा। इस प्रकार, तिलक में दी हुई निधि भी लटक जायगी। तुम्हीं जरा सोचो, कुप्रथा के यहाँ बुद्धि रेहन रखकर हम कभी आगे बढ़ सकते हैं।"

"दद्दा, यहाँ पर प्रश्न आपकी या हमारी बुद्धिमानी का नहीं है। मुख्य प्रश्न है उनकी इच्छा—उनके अधिकार का। डॉक्टरसाहब ने भी ऐसा ही कहा है।"

"क्या कहा है ?"

"कहा है कि इनके हृदय को कोई आघात नहीं पहुँचना चाहिये। वातावरण इतना शान्त रहना चाहिये कि कोई भी व्यक्ति किसी से चिल्लाकर कोई बात न कहे। परस्पर कहा-सुनी न हो और वाद-विवाद या विग्रह तो किसी तरह न होने पायें।"

"यह सब तो ठीक है, मैं मानता हूँ। लेकिन हम लोगों को हर हालत में अपना भला-बुरा सोचकर चलना चाहिये। उनकी क्या इच्छा है, क्या नहीं है, केवल इसी बात को आदर्श मानकर अपनी बुद्धि से काम न लेना मेरे मत से कोई बुद्धिमानी नहीं है—जबकि उनके आदेश को व्यवहार का रूप देना अब हमीं लोगों पर निर्भर है।"

"दद्दा, आप मुझसे बड़े हैं, इस नाते आपकी बात मुझे माननी चाहिये। लेकिन आप ही के तर्क से बुद्धिमानी तो सच पूछिये इसी बात में है कि उनकी इच्छाओं का पहले ध्यान रखा जाय; क्योंकि धन-सम्पदा उनकी, क्षमा कीजियेगा मैं बिलकुल स्पष्ट ही कहने जा रहा हूँ। जिस लड़की के विवाह की समस्या हमारे सामने मूर्त्तिमन्त होकर खड़ी है वह स्वयं भी पुत्री उनकी। फिर मैं होऊँ या आप हों, उनके मन्तव्य में हस्तक्षेप करनेवाले कौन होते हैं ? मैं समझता हूँ कि इस विषय में हस्तक्षेप करने का हमको कोई अधिकार नहीं है। फिर जब बात

इस सीमा तक आगे बढ़ गई है तब तो कान्ति के विवाह का तिलक चढ़ेगा और आज ही चढ़ेगा। आचार्यजी आ गये हैं और मामाजी मेरे साथ जा रहे हैं।"

उपेन्द्र ने फिर यही अनुभव किया कि इस घर में मेरी प्रभुसत्ता का अब कोई अस्तित्व नहीं रह गया है, क्योंकि पिताजी ही नहीं, सुरेन्द्र भी मेरे मत का नहीं है। अम्मा पिताजी का विरोध कर ही नहीं सकतीं। उधर कुन्दनबाबू भी उन्हीं की हाँ-में-हाँ मिला रहे हैं। तात्पर्य यह कि एक ओर सारा घर है और दूसरी ओर अकेला मैं। ऐसी दशा में मैं कर ही क्या सकता हूँ! हाँ, मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ। 'रहिमन चुप हो बैठिये, देखि दिनन को फेर।'

बड़े भाई की इन बातों को सुनकर एक बार तो सुरेन्द्र के मन में यह भी आया कि हो-न-हो दद्दा शायद सोच रहे हों कि पिताजी के जीवन के ये अंतिम दिन उन्हें अवसर दे रहे हैं कि जो कुछ रुपया इस समय उनके हाथ में है वह किसी प्रकार खर्च न होने पाये। अगर खर्च हो भी तो कम-से-कम। केवल इसलिए कि जितना अधिक रुपया बचेगा बँटवारा होने पर उतना ही अधिक उन्हें प्राप्त होगा। दद्दा का आन्तरिक विचार इसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता!

क्षण-भर में उपेन्द्र के मन का भेद सुरेन्द्र के समक्ष इतने नग्न और वीभत्स रूप में आ गया कि वह सोचने लगा, 'मैं इन्हें इतना गिरा हुआ नहीं समझता था। जिस आदमी का सारा शरीर उज्ज्वल और गौरवर्ण हो, उसका हृदय इतना काला हो, यह बड़े आश्चर्य और परिताप की बात है।'

चलते समय सुरेन्द्र जब घरवालों से विदा होने लगा, तो बड़े बेमन से उसने उपेन्द्र के चरण स्पर्श किये। बारम्बार उसके मन में यही बात आ जाती कि मालूम नहीं क्यों, शेक्सपियर का यह कथन मैं कभी भूल नहीं पाता। 'हो सकता है, कोई मुस्कराये और फिर मुस्कराये और फिर भी वह प्रकृति से दुष्ट हो।'

११

तिलक के बाद फिर कान्ति का विवाह भी हो गया। विवाह का सारा कार्य-क्रम निर्विघ्न समाप्त हो गया।

काशीबाबू के मन में उस दिन बड़ा सन्तोष था। वे सोचते थे कि कुल मिलाकर मेरा जीवन सुख और शान्ति के साथ व्यतीत हुआ। कहीं मुझे किसी के आगे हाथ नहीं पसारना पड़ा, संकट के समय किसी के आगे गिड़गिड़ाना भी नहीं पड़ा। सबसे बड़ी बात यह हुई कि उपेन्द्र अपने परिवार को लेकर अपनी ही इच्छा से अलग हो गया। मुझे उससे कुछ कहना नहीं पड़ा और अब ?

प्रश्न के साथ एक मौन। उसके पश्चात् रास्ते में एक ओर खड़ा हुआ मील का पत्थर, घूम-फिरकर वही चिरन्तन सत्य जैसी बात कहता हुआ कि मुझे क्या लेना-देना है ?

समय कुछ और आगे बढ़ आया था। सुरेन्द्र ने बी० ए० में प्रथम श्रेणी प्राप्त कर ही ली। काशीबाबू सोचने लगे—'जबतक वह अपने पैरों न खड़ा हो जाय, उसके विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, कभी-कभी मन में आता कि उपेन्द्र का लड़का देवेन्द्र भी वयस्क हो जाता। मैं उसका भी विवाह देख लेता। सुरेन्द्र मेरे सामने स्वावलम्बी बन जाता। फिर उसका विवाह ? कलावती उसके साथ रहकर परम सन्तोष का अनुभव करती, मैं और भी अधिक निश्चितता के साथ चिर विदा लेता।'

चिन्तन में डूबे काशीबाबू सोचने लगे—'किन्तु ऐसा कभी होता नहीं। मनुष्य की सारी कामनाएँ परिपूर्ण नहीं होतीं। कुछ तो बीच में ही समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि सफल होनेवाली कामनाएँ ही उन्हें जप डालती हैं। मनुष्य उत्पन्न होते समय जैसे विश्व को आश्चर्य और विस्मय के साथ देखता है; देह-त्याग करते समय भी वैसे ही एक अतृप्ति और अशांति लेकर अंतरिक्ष में लीन हो जाता है। प्रस्थान की यह वेला कुछ ऐसी विचित्र होती है कि मनुष्य अपनी कामनाओं के शेष भाग को पूरा करने के लिए पुनः इसी कठघरे में आ जाता है।

लेकिन आज मैं इस परिस्थिति में हूँ कि घोषणा कर सकूँ। परमपिता तेरी

इच्छा पूर्ण हो। मेरी कोई इच्छा नहीं। देवराज की इन्द्रपुरी भी अब मुझे नहीं चाहिये। देख ली मैंने तेरी यह दुनिया। जिस सृष्टि में सारा जीवन-व्यापार सहेतुक होता हो, मुझे वह सृष्टि नहीं चाहिये।

'मगर मनोमंथन का उद्वेलन कभी बन्द नहीं होता।...यह वैराग्य तुम्हें शोभा नहीं देता।'

सारा घर अभी मेहमानों से भरा हुआ था, क्योंकि गौने में कान्ति को ससुराल गये अभी कुछ ही घंटे व्यतीत हुए थे। बड़ी देर तक चुपचाप लेटे-लेटे काशीबाबू ने सुरेन्द्र को अपने निकट बुलाकर कहा—"बेटा, मुझको तुमसे कुछ कहना है। सब लोगों से कह दो, यहाँ से चले जायँ।"

स्वामी की इस बात को सुनकर कलावती कुछ उन्मन हो उठी। उसने कुछ कहा तो नहीं, लेकिन उसके मन में बार-बार आया कि कहीं एक बार कह न दें कि मैं भी चली जाऊँ। मुझसे भी छिपाने को कुछ है? लेकिन जान-बूझकर उसने ऐसा कुछ नहीं कहा; क्योंकि वह जानती थी कि कहीं पूरी बात कहते-कहते कण्ठ गीला न हो जाय। आँखों से आँसू न टपक पड़ें। जीवन जिसने दिया, उसकी रचना पर कहीं कोई कुण्ठा व्यक्त न हो जाय। अहो लीलाधाम, तुमसे क्या छिपा है! आँसू तो मानवात्मा की रस-सृष्टि है, आ भी जाएँ तो क्या?

जब सब लोग चले गये तो काशीबाबू ने सुरेन्द्र से कहा—"अब मैं चला जाऊँगा बेटे।"

"कहाँ, बाबू?"

"जहाँ से आया था।"

सुरेन्द्र पिता की बात सुनकर चौंक पड़ा। बरबस आँखों में आँसू आ ही गये।

"यह तुम क्या कह रहे हो बाबू?"

"अवसर की बात है, सुरेन्द्र बेटा। हरएक व्यक्ति को ऐसा अवसर मिलता नहीं। इसलिए सोचता हूँ कि इस दृष्टि से मैं सचमुच बड़ा भाग्यशाली हूँ। तो हाँ, मुझे तुमसे यह कहना है कि दूसरों की परवा किये बिना, उनके सुख-दुःख पर ध्यान दिये बिना जो लोग संसार का अधिक सुख स्वयं ही लूट लेना चाहते हैं, भगवान् की इस अनोखी सृष्टि में सबसे अधिक दुःख के भागी वही होते हैं।

मालूम नहीं क्यों, बेटा, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह उपेन्द्र एक दिन बहुत दुःख पायगा। तुम इसका ध्यान रखना। अच्छा, बस।"

और कहते हैं इसके बाद काशीबाबू ने सदा के लिए आँखें बन्द कर लीं।

शान्ति-संस्कार के बाद जब घर और पास-पड़ोस के व्यक्ति लौट आये तब एक बार फिर घर के अन्दर रुदन का चीत्कार प्रबल हो उठा। वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध लोग कलावती को समझाने लगे। "काशीबाबू का जीवन सब प्रकार से आदर्श जीवन था। उन्होंने कभी किसी को सताया नहीं।"

सिर पर कोसा का साफा बाँधे, पोपले मुँह पर सफेद मूँछें उचकाते-गिराते फूफाजी बोले—"हाँ, उन्होंने कभी किसी को सताया नहीं। जहाँतक हो सका, शक्ति भर सहायता ही करते रहे। मुझसे उमर में दो-तीन वर्ष बड़े थे, लेकिन जो आदर-सम्मान उनके द्वारा मुझे मिला, वह अब कहीं नहीं मिलेगा। ऐसा प्रतापी व्यक्तित्व था उनका कि जहाँ पहुँचते थे, वहाँ लोग आपस में कानाफूसी करने लगते थे 'बड़े बाबू आ गये'। नाम से तो कोई उनको जानता ही न था।"

कुन्दनबाबू आँसू पोंछते-पोंछते कहने लगे—"वे हृदय के बड़े दृढ़, मनोबल के इतने विशाल कि मुझे विगत दस वर्षों के बीच में कभी उनसे किसी वस्तु के माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ी। अगर मैंने कभी कह दिया—'चाचा, यह लिहाफ तो आपने बहुत अच्छा बनवाया है।' बस मेरा इतना कहना होता कि वे बोल उठते—'फिर तुम इसे ले जाओ बेटे, हम और बनवा लेंगे।' "

इसी समय फूफाजी बोल उठे—"कुन्दन तुमने मेरे मुँह की बात छीन ली। मुझे भी उनकी उदारता के ऐसे प्रमाण मिले हैं। दूर क्यों जाऊँ। पूर्णिमा का जब विवाह होने लगा मुझको साथ लेकर वह कपड़ा खरीदने गये थे। एक रेशमी, ऊनी, असली भागलपुरी कपड़ा हाथ से टटोलते हुए मैंने पूछ लिया कि किस भाव का है? उन्होंने तत्काल दुकानदार से कह दिया—"चाहे जिस भाव का हो—तीन गज इसमें से भी दे दो।"

इसी समय उपेन्द्र बोल उठा—"हाँ फूफाजी यह बात तो आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं। व्यवहार में वे अपना सानी नहीं रखते थे। यहाँ तक कि यह भी

नहीं देखते थे कि परिस्थिति क्या कहती है। और इस बात का भी विवेक नहीं रखते थे कि जो आदमी उनकी प्रशंसा कर रहा है, उसका आन्तरिक रूप स्वार्थ से कितना निहित है।"

इसी समय कुन्दनबाबू कुछ तेवर के साथ बोले—"बको मत। और उनकी यह दरिया-दिली उनके साथ चली गई।

'गही तो न गही, जौन छाँड़ी तौन छाँड़ दई।
करी तौन करी, जौन ना करी सो ना करी।'

ऐसे थे चाचा जी।"

अब मौसाजी से न रहा गया। उन्होंने कहा—"इसीलिए मेरा कहना है, कला दीदी कि यह रोने का अवसर नहीं है। केवल यह सोचने का अवसर है कि भगवान् ऐसा स्वामी सबको दें।"

आँसू पोंछती हुई मंजु पूर्णिमा से कह रही थी—"मुझे दुःख तो इसी बात का है कि भगवान् ने मुझे उनकी सेवा करने का अवसर नहीं दिया।"

पूर्णिमा अपनी माँ को समझा रही थी—"अम्मा, तुम यह क्यों नहीं सोचतीं कि बाबू कितने बड़े पुण्यात्मा थे। सब तरह से भरा-पूरा घर छोड़कर मरे। और कान्ति का विवाह ऐसा कर दिया जैसा टोले-मोहल्ले के बड़े-बड़े धन्ना सेठ नहीं कर सके।"

बड़ी रात तक यही चर्चा होती रही कि ऐसा तो आदमी होना दुर्लभ है।

किन्तु दूसरे ही दिन जब कुन्दनबाबू अपनी सास के आगे शान्ति-संस्कार के आय-व्यय के अनुमान पर विचार करने लगे, तो उसकी भनक उपेन्द्र के कान में भी पड़ गई। कुन्दनबाबू के मुँह से कहीं निकल गया कि सब मिलाकर एक हजार रुपया तो खर्च करना ही पड़ेगा।

इसी समय उपेन्द्र आ पहुँचा और बोला—"घाटिया, पंडा और महाब्राह्मण इन लोगों को दान देने के पक्ष में मैं कतई नहीं हूँ। इनको दिया हुआ धन, कभी किसी सत्कर्म में नहीं लगता। इससे तो कहीं अच्छा है कि विद्यार्थियों को बाबू के नाम पर छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था कर दी जाय।"

कलावती के संस्कार पुराने थे। वह उपेन्द्र का यह कथन सहन न कर सकी—और बोली—"इन लोगों को दी हुई धन-सामग्री मृत प्राणी को मिलती है या नहीं,

मैं नहीं जानती। इन लोगों को दिया हुआ रुपया-पैसा अच्छे कामों में ही लगता है, यह भी मैं नहीं कह सकती। लेकिन यहाँ तो प्रश्न इस बात का है कि अगर इनको दिया हुआ दान प्राणी को कहीं और कभी मिलता हो, या मिल सकता हो, तो क्यों न मिले?"

उपेन्द्र को अपनी बात पर अड़े रहने का नशा अब भी गया न था। दूसरे उसकी तुर्शी भी अब बल खाने लगी थी।

अतएव उसने कह दिया—"मैं निश्चित रूप से जानता हूँ, इसलिए दावे के साथ कह सकता हूँ कि ये सब बातें महाजनी सभ्यता की देन हैं। सरासर धोखा है, जाल है, यह कहना कि मरने के बाद प्राणी जहाँ कहीं होता है, ये वस्तुएँ उसे मिल जाया करती हैं। मैं इस पर कतई विश्वास नहीं करता।"

इतने में सुरेन्द्र जो अब तक बैठा सुन रहा था बोला—"मैं इस प्रपंच में नहीं पड़ता। मैं यह भी नहीं मानता कि यह सब हमारे सोचने और विचार करने का विषय नहीं है। मेरा तो यही कहना है कि जिन संस्कारों में बाबू का जीवन बीता, उनका ध्यान रखना और उन्हीं के अनुरूप सारे कृत्य करते जाना मैं अपना धर्म समझता हूँ।"

"सुरेन्द्र तुम मेरे रहते इसी तरह की बातें न करो तो अच्छा है। मैं कहता हूँ, यह धर्म नहीं धर्मान्धता है। यह कर्तव्य-पालन नहीं, मूर्खता का प्रदर्शन है।"

फूफा, मौसा और कुन्दनबाबू इस समय तीनों बोल उठे—फूफाजी ने कहा—"कुछ भी हो, लोक-रीति तो निबाहनी ही पड़ती है।"

मौसाजी ने मूँछों पर हाथ फेरते हुए कहा—"ऐसे प्रतापी आदमी के काम में मेरे ख्याल से किसी बात की कमी नहीं रहनी चाहिये। वैसे मैं उपेन्द्र का कहना भी बेजा नहीं मानता। विद्यार्थियों को दिया जाने वाला वजीफा जुग-जुग तक बखाना जाता है।"

सुरेन्द्र को यह पंचायत अशोभन लग रही थी। अतः प्रस्तुत विषय का समापन वह शीघ्र देखना चाहता था।

अतएव उसने कहा—"मैं ये सब बातें जानता हूँ और इनका मर्म भी समझता हूँ। लेकिन इस सम्बन्ध में होगा वही जो अम्मा चाहेंगी; क्योंकि पिताजी

के बाद इस घर में सबसे बड़ा अधिकार उन्हीं का है।

सुरेन्द्र की इस बात को सुनकर उपेन्द्र गम्भीर हो उठा। एक बार उसने सिर पर अपना हाथ फेरा, जिसमें अब कुछ खूटियाँ झलक आई थीं। श्वेत परिधान को कन्धे पर डालता हुआ वह बोला—"इस अवसर पर मुझको बोलना तो न चाहिये, क्योंकि आशंका है कि अम्मा दूसरा कोई अर्थ न लगायें। लेकिन सत्य के साथ न्याय का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इसलिए सच्ची बात अन्त में कहनी ही पड़ती है। आप लोगों को विदित हो कि अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण उत्तराधिकारी वास्तव में मैं हूँ। इसलिए धर्म से ही नहीं, न्याय से भी जो मैं कहूँ, वही होना चाहिये। फिर घर की स्थिति जाने बिना बजट कैसे बनाया जायगा? अम्मा, तुम्हारे पास क्या है? नकद रूप में कितना है और गहनों के रूप में कितना? दिखलाओ जरा बक्स खोलकर।"

उपेन्द्र की इस बात को सुनकर सभी उपस्थित लोग स्तब्ध हो उठे। कलावती उसकी इस बात को सहन न कर सकी और क्रोध में आकर बोली—"ऐसी बात कहते हुए तुझे शर्म नहीं आई उपेन्द्र। रुपये-पैसे का हिसाब तेरे बाबू ने तो कभी मुझसे माँगा नहीं। हम लोगों ने कितनी कठिनाइयों से पैसा-पैसा जोड़कर इस गृहस्थी को जमाया, तेरा पालन-पोषण किया, क्या इसी दिन के लिए? अभी उनको आँखें मूँदे चार दिन भी नहीं हुए और तू मुझसे कहता है कि रुपया निकालो देखूँ कितना है। मैं नहीं जानती थी पढ़-लिख जाने के बाद तू इतना नीच निकलेगा!"

उपेन्द्र वस्तुस्थिति से परिचित था। वह नीति का यह वचन भी जानता था कि सत्य बोले, पर अप्रिय सत्य न बोले। लेकिन वह सोचता था कि कुछ सत्य इस प्रकृति के होते हैं जिनको प्रकट करने पर मनुष्य का मान संकट में पड़ जाता है। पर क्या इसी भय के कारण सत्य को दबा रखना उचित है? एकाएक उसे अफलातून का यह कथन याद आ गया कि मैं यह अधिक पसन्द करूँगा कि सारी दुनिया से मेरी अनबन हो जाय और वह मिलकर मेरा विरोध करने लगे, अपेक्षाकृत इसके कि स्वतः मेरी अपने आपसे अनबन हो जाय। और मैं स्वयं अपना विरोध करने लगूँ।

उसने कह दिया—"ये सब भावुकता की बातें हैं, इनमें कुछ भी दम नहीं है।

मुख्य बात यह है कि पिता के स्थान पर अब इस घर का संचालन करने वाला एक-मात्र मैं हूँ, परम्परा से ही नहीं न्याय से भी। इसलिए पिता की सम्पत्ति तो अब मेरे हाथ में आनी ही चाहिये। अगर मैं सुरेन्द्र की शिक्षा में कोई बात उठा रखूँगा या माँ-बहन को किसी प्रकार का कष्ट दूँ, तो भले ही आप लोग मुझे दोषी ठहरा सकते हैं; लेकिन जब अधिकार का प्रश्न उठेगा तब तो मुझे बोलना ही पड़ेगा।"

आवेश कम्पित कलावती बोली—"ऐसा कुछ नहीं होगा उपेन्द्र। मेरी इच्छा के बिना इस घर का एक तिनका न पहले हिला है न अब हिलेगा। जो कुछ मेरे पास है वह मेरा है, केवल मेरा है।"

सुरेन्द्र की स्थिति बड़ी गम्भीर थी। वह सोचता था, 'बाबू चले ही गये। रह गई अम्मा, उनके साथ दद्दा का यह व्यवहार!' वह और आगे सहन न कर सका। तब उसे बोलना पड़ा—"हाँ, वास्तव में अम्मा का ही है, क्योंकि वह स्त्री-धन है। अम्मा की अनुमति के बिना हम लोगों में से कोई उसे छू भी नहीं सकता।"

उपेन्द्र अभी तक बैठा हुआ था। अब लोटा हाथ में थामे उठकर खड़ा हो गया। जो परिधान वह वदन से लपेटे हुए था, अबतक खिसक गया था। उसे पुनः वक्ष से लेकर कन्धे पर डालकर वह बोला—"तब तो अब इस घर की देख-रेख और व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई दायित्व मेरे ऊपर नहीं रहा। अगर किसी काम में कोई कमी रह गई तो उसका फल आप ही सब लोग भोगेंगे। पहले से कह देना अच्छा होता है।"

फूफा, मौसा और कुन्दनबाबू ही नहीं, सुरेन्द्र के मामा भी उठकर खड़े हो गये। फूफाजी ने थोड़ा रुककर और उभरते आवेश को दबाकर कहा—"शांति-संस्कार का काम तो शांति के साथ ही होना चाहिये। और उपेन्द्र, तुमको हर हालत में अपनी माँ के सम्मान का ध्यान रखना चाहिये।"

अब भी उपेन्द्र यही सोच रहा था कि मनुष्य का गौरव इसी बात में है कि वह सत्य की खोज करे, उसे टटोल-टटोलकर देखे कि वह कहाँ तक कठोर है, उससे प्रेम करे, यहाँ तक उसे सिद्ध करने के लिए अपनी आहुति भी दे दे।

अपने आवेश को न संभालकर उपेन्द्र बोला—"आपको कुछ मालूम नहीं है फूफाजी। यहाँ मान-सम्मान का प्रश्न नहीं, मेरे विरुद्ध यह एक षड्यन्त्र है। दस-

बारह दिन तक तो मैं चुप रहूँगा, उसके बाद देखूँगा कि वास्तव में अधिकार किसका है।"

इतने में उपस्थित लोगों में सबसे वृद्ध, वरिष्ठ फूफाजी बोले—"मैं सिर्फ एक बात कहूँगा उपेन्द्र, वह यह है कि काशीबाबू, बहुत समझदार थे, बहुत बुद्धिमान थे। वे तुम्हारे इस रूप को देख चुके थे और तुम्हें भी बहुत-कुछ समझ चुके थे। थोड़े में इतना जान लो कि ऐसा कुछ नहीं है कि वे इस परिस्थिति को, जो आज उत्पन्न हुई है, समझते न हों, तो जो समस्या तुम उठा रहे हो, उसका इलाज वह पहले ही कर चुके हैं। मैं तुम्हें चुनौती देता हूँ। न्यायालय में जाकर देख लो, क्या परिणाम होता है। मुझे आश्चर्य तो इसी बात का है कि ऐसे प्रतापी और हीरा जैसे व्यक्ति का तुम जैसा पुत्र हुआ? स्वार्थी, धूर्त और नीच। तुम्हारे हाथ से तो उनका दाह-संस्कार होना भी न चाहिये था।"

इतने में कई लोग कलावती की ओर दौड़ पड़े, क्योंकि वह अचेत हो चुकी थी।

उपेन्द्र अबतक के जीवन में इतना अपमानित कभी नहीं हुआ था। उसने कभी यह सोचा भी न था कि उसके जैसे बुद्धिमान, संघर्षप्रिय, सत्य-शोधक और खरे व्यक्तित्व के रूप का कोई दूसरा पक्ष इतना निंद्य भी हो सकता है! वह सोचता था—'साधारण आदमियों के बीच मैं खप नहीं पाता, यह एक अलग बात है; लेकिन कहीं पर मैं भ्रम में हूँ, बहुत बड़े भ्रम में हूँ,' ऐसा कुछ वह अपने प्रति सोच ही नहीं सकता था।

दाह-संस्कार करने के कारण लोटा और चाकू उसके पैर के पास रखे हुए थे। उस क्षण उसने ऐसा कुछ अनुभव किया कि लोटे में साँप बन्द था और चाकू में जो धार थी वह साँप के दाँत की थी। उसी का विष मुझे चढ़ गया है। एकाएक उसका सारा शरीर उस विष से इस रूप में इतना उद्विग्न और कंपित हो उठा कि उसकी शिरा-शिरा और लोम-लोम से एक स्वर फूटने लगा, 'कुछ भी हो, मैं अपना एक आदर्श स्थापित किये बिना मानूँगा नहीं। मैं संसार को यह दिखाकर मानूँगा कि मैं वास्तव में हूँ क्या! मुझे मालूम हो गया कि दुनिया शक्ति की पूजा करती है। अच्छी बात है, मैं शक्ति का एक पुंजीभूत पिता बनकर मानूँगा। मैं अपने बेटे

देवेन्द्र का पालन-पोषण ऐसे ढंग से करूँगा कि एक दिन आयगा, जब दुनिया उसके ऐश्वर्य को मान देगी। उसके महत्त्व की पूजा करेगी। मैं अपनी इन्हीं आँखों से देखूंगा कि उसका आदेश कितनी जल्दी ब्रह्म-वाक्य बन रहा है। इस भाँति ऐसे शक्तिशाली पुत्र को उत्पन्न करने का जो गौरव मुझको प्राप्त होगा वह हमारे समाज के लिए ही नहीं, वरन् इस नगर के लिए पहले वन्दनीय और फिर स्मरणीय माना जायगा। इन फूफाजी जैसे दर्जनों लोग तो मेरी आरती उतारेंगे। सामने ही नहीं, पीठ पीछे भी मेरी सराहना करने में सुख का अनुभव करेंगे। उस समय इस प्रकार के सारे लोग यह भूल जायेंगे कि ऐसा भी एक दिन था, जब मेरे सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणाएँ लोगों ने बना ली थीं। निश्चित रूप से उस समय वे लोग अनुभव करेंगे कि हम लोग वास्तव में उपेन्द्र बाबू को समझ नहीं पाये थे।'

काशीबाबू का श्राद्ध-संस्कार विधिवत् हो गया। उपेन्द्र ने किसी भी समय, किसी भी कार्यक्रम में हस्तक्षेप नहीं किया। प्रत्येक गतिविधि में वह अत्यधिक मौन और गम्भीर बना रहा। घर के अन्य लोग जो कभी उसके सम्बन्ध में इस बात की आशंका करते कि उपेन्द्र कहीं इसका विरोध न करे वे सब प्रत्येक परिणति पर चकित और विस्मित दृष्टि से उसको देखते रहते। अन्त में शांति-संस्कार के बाद जब उपेन्द्र पुखराँया लौट आया, तब वह देवेन्द्र के बचपन के प्रत्येक-कार्य-कलाप को सदा ध्यान से देखने लगा। अपनी रुचियों का ध्यान उसे रहता था, लेकिन उसी सीमा तक, जहाँ तक बच्चे के स्वाभाविक विकास की गति को कोई अवरोध न पहुँचे।

उपेन्द्र सिगरेट बहुत पीता था, लेकिन एक दिन जब उसने देखा कि जली हुई सिगरेट का एक टुकड़ा देवेन्द्र अपने बायें हाथ में लिये हुए है तब वह उसके पीछे लग गया। अब देवेन्द्र आगे-आगे दौड़ रहा था और उपेन्द्र स्वयं उसके पीछे लगा था। उपेन्द्र चाहता था कि सिगरेट का वह टुकड़ा देवेन्द्र उसे लौटा दे, लेकिन जब वह उस टुकड़े को देवेन्द्र के हाथ से छीनने लगा, तब देवेन्द्र रो पड़ा! वह यहाँ तक रोने लगा कि उसको शांत करना दुष्कर हो उठा। बड़ी देर तक छाती से चिपकाये उपेन्द्र घर-भर में इधर-से-उधर टहलता रहा, किन्तु उभर-उभरकर आती हुई सिसकियाँ जब किसी प्रकार बन्द न हुई तो उसने अपने सिगरेट के

पैकेट से एक नई और पूर्ण सिगरेट निकालकर उसके हाथ में दे दी ।

उपेन्द्र ने देखा, देवेन्द्र का रोना बन्द हो गया है। अब स्थिति यह थी कि देवेन्द्र सिगरेट लेकर जब पुनः भागने लगा, तो उपेन्द्र ने उसका पीछा करना उचित नहीं समझा । यहाँ तक कि अन्त में देवेन्द्र ने उस सिगरेट को मुँह से लगा लिया। जिह्वा, होंठ और दाँत के प्रयोग से जब देवेन्द्र ने सिगरेट की तम्बाकू के रेशों में कुछ कटुता का अनुभव किया तो पहले तो तम्बाकू के उन रेशों को तुरन्त थूक दिया फिर उस सिगरेट को भी फेंक दिया। उपेन्द्र ने उठकर झट से अपना तौलिया उठाकर उसका मुँह पोंछ दिया और तौलिये के कोने को पानी में डुबोकर उसकी जिह्वा के अग्रभाग को भी धो दिया।

जिस समय उपेन्द्र देवेन्द्र का मुँह पोंछ रहा था, उसी समय देवेन्द्र ने उस सिगरेट को पुनः उठाकर रद्दी और कूड़े की टोकरी में फेंक दिया। जब उपेन्द्र ने लक्ष्य किया कि देवेन्द्र के मुख पर एक संतोष है और उसने अपने तईं यह अनुभव किया कि प्रयोगों के माध्यम से हम जीवन की बड़ी-से-बड़ी समस्या को सहज ही सुलझा सकते हैं ।

अब देवेन्द्र के पालन-पोषण में उपेन्द्र इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखने लगा कि उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण न रहने पाये। खान-पान में ही नहीं, नाना वस्तुओं के उपयोग में भी वह सदा यही सोचता रहता कि मुझको चाहे सामान्य कपड़े ही पहनने को मिलें, लेकिन देवेन्द्र उच्च श्रेणी के अधिक मूल्यवान कपड़े पहने। यहाँ तक कि उन कपड़ों की सिलाई भी प्रथम श्रेणी के दरजी के यहाँ हो। मिठाइयों और फलों के चुनाव में भी वह इसी बात का ध्यान रखता था ।

यों तो सामान्य रूप से उसके यहाँ पहले भैंस का ही दूध आता था, लेकिन जब देवेन्द्र की तीसरी बर्षगाँठ हुई तो उसने उसको गाय का दूध पिलाना आरम्भ कर दिया। छोटी-सी गिलसिया में दूध लेकर जब वह देवेन्द्र को पिलाने लगता, तब यही सोचता रहता कि संसार का सारा शासन बुद्धि से होता है— न तो अर्थ से और न मानसिक बल से । फिर जब देवेन्द्र पाँच वर्ष का हुआ तो उसने अनुभव किया कि अब साधारण ग्राम में रहकर, भले ही उसकी गणना बड़े ग्रामों में हो रही हो; मैं देवेन्द्र की शिक्षा-दीक्षा सुचारु रूप से संचालित नहीं

कर सकता । तब नवीन सत्र के प्रारम्भ होने से पूर्व उसने इस बात की पूरी चेष्टा की कि वह ऐसे नगर में आ जाये जहाँ कालेज ही नहीं, विश्वविद्यालय भी हो । अधिक दौड़-धूप करने पर उसे इलाहाबाद के माध्यमिक श्रेणी के एक विद्यालय में शिक्षक का स्थान मिल गया । अब उपेन्द्र निरन्तर यही सोचने लगा कि कब वह दिन आयगा जब मेरा देवेन्द्र विश्वविद्यालय में पहुँचेगा ।

गति के चरण काल-सापेक्ष नहीं होते । पहले तो उपेन्द्र ने स्वतः देवेन्द्र को पढ़ाने की चेष्टा की, किन्तु कालान्तर में उसने अनुभव किया कि प्यार में अनुशासन नहीं चलता । यह बात दूसरी है अनुशासन के प्यार की भी एक स्थिति होती है । दोनों का समन्वय होना बड़ा ही कठिन कार्य है । हम दुनिया को प्यार भी करते रहें और सम्पर्क में आने वाले लोगों के साथ अनुशासन भी प्रखरता के साथ बनाये रखें, यह बहुत कम सम्भव है । अनुशासन में संयम का राज्य चलता है जबकि प्यार सदा संयम से दूर भागता रहता है ।

गति के चरण आगे बढ़ रहे थे । इस मनोमंथन का परिणाम यह हुआ कि उपेन्द्र ने देवेन्द्र को पढ़ाने में अपने को असमर्थ पाया । अब एक ओर देवेन्द्र की सारी इच्छाएँ बहुधा पूर्ण होती रहतीं, दूसरी ओर उसका शिक्षक, जो कार्य उसे सौंप जाता, वह कुछ ऐसा संलग्नतापूर्ण और श्रम-साध्य होता कि देवेन्द्र अपनी शिक्षा के सम्बन्ध में एक निश्चित कार्यक्रम में बँध जाता । उसे पूरा किये बिना वह टस-से-मस न हो पाता ।

उपेन्द्र के इस प्रयोग ने एक ही पथ के दो भाग कर दिये । निश्चित समय पर अगर वह अध्ययन करता तो उसके बाद वह घंटे-भर के लिए बैडमिंटन और फुटबाल भी खेलने चला जाता । वह खाना खाने बैठता, तो उसके सामने रुचि के अनुकूल पदार्थों की परिपूर्ण विविधता रहती । उसको मंजु से यह कहने का कभी अवसर ही न मिलता कि मम्मी आज खाने में कुछ मजा नहीं आया । वार्तालाप में छूट और स्वाधीनता देवेन्द्र को इस सीमा तक प्राप्त थी कि वह उपेन्द्र से यह स्पष्ट कह सकता था कि "डैडी, आप रमी खेलने में जितना समय नष्ट किया करते हैं उतना अगर अपनी कक्षा के विषय के अनुरूप अध्ययन करने में लगातें तो छात्र समुदाय के बीच आप बहुत अधिक लोकप्रिय होते ।"

पुत्र की ऐसी बातें सुनकर कभी-कभी उपेन्द्र मुस्कराने लगता। यह सोचने में उसे बड़ी प्रसन्नता होती कि देवेन्द्र चरित्र के अध्ययन में कितनी रुचि रखता है। उस दिन उपेन्द्र को भी कहना पड़ता—"हो सकता है, मेरे सम्बन्ध में तुम्हारी सलाह सही भी हो, लेकिन ऐसा भी तो हो सकता है कि रमी के खेल में मुझे तुम्हारे जीवन के विकास का कोई ऐसा मार्ग सूझ जाय, जो नवनियोजन के माध्यम से तुमको कहीं-से-कहीं लाकर खड़ा कर दे।"

देवेन्द्र ने पूछा—"कैसे ?"

उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"जैसे जब तुमने हाई स्कूल में फर्स्ट डिवीजन पाया था, तब मैंने तुमको साइकिल खरीद दी थी। फिर जब तुम इण्टरमीडियेट में प्रथम श्रेणी प्राप्त करने के सिवा महत्त्व की दृष्टि से भी द्वितीय स्थान प्राप्त कर सके तो उसकी प्रसन्नता ने मुझको तुम्हारे लिए एक बढ़िया घड़ी खरीद देने की प्रेरणा दी।"

उपेन्द्र उस चर्चा के समय गम्भीर ही बना रहा, किन्तु देवेन्द्र ने उत्सुकता से पूछा—"और आगे ?"

उपेन्द्र का उत्तर था—"आगे की बात फिर कभी बतलाऊँगा। आज छोड़ो इस प्रसंग को।"

ऐसा कुछ नहीं है कि मनुष्य चलते-चलते कभी घूमकर पीछे न देखता हो। अध्ययन की विधा कभी इतनी जड़ नहीं होती कि कोई अध्येता अगले अध्यायों का अवलोकन करता-करता कभी किसी पिछले अध्याय को देखने की ओर उन्मुख न होता हो। आगे बढ़कर कूदने की प्रक्रिया में बहुधा किशोर और तरुण छात्र पीछे हटकर ही आगे कूदते हैं। ट्रेन का इंजन जब गाड़ी से जुड़ता है, तब सारी ट्रेन को थोड़ा-सा पीछे ढकेल देता है। इसके सिवा ट्रेन जब चलना प्रारम्भ करती है, तब भी वह कभी-कभी पीछे हटकर ही आगे बढ़ती है।

उपेन्द्र को भी वे दिन याद आते, जब उसका विवाह नहीं हुआ था। उसे जब अपने पिता की याद आती, तब कुछ ऐसा बोध होता, जैसे वे दिन ही कुछ और थे। बाबू सदा ऐसे ही न थे। उसे धीरे-धीरे सभी बातें याद आया करतीं। ऐसी कोई बात ही न थी, जिसे उन्होंने पूरा न किया हो। पास-पड़ोस के बच्चे,

होली के दिन, जब रंग छोड़ने के लिए, पिचकारी निकाल लाये, तब उपेन्द्र ने भी पीतल की पिचकारी की माँग कर दी। काशीबाबू की एक पुरानी पिचकारी पड़ी हुई थी, जिसमें जंग लग गई थी। जहाँ तहाँ वह पिचक भी गई थी। काशीबाबू ने कहा—"आज हम उसे ठीक करवा देंगे बेटे।"

उपेन्द्र बोला—"नहीं, मैं तो नई पिचकारी लूँगा।"

कलावती ने समझाया—"बेटा, नई पिचकारी लेने में पैसे क्यों बरबाद करते हो ? उतने पैसे और किसी काम आयेंगे।"

अब उसे सब स्मरण आ रहा था। उसने उत्तर दिया—"नई चीज खरीदने में पैसे कभी बरबाद नहीं होते।"

अम्मा ने फिर समझाने की चेष्टा की—"जब तक पुरानी चीज काम देती रहे, तब तक उसका उपयोग करते जाने में कोई बुराई नहीं है बेटा।"

"वाह बुराई कैसे नहीं है ? जब हमारे साथ के लोग नई चीजें लिये हुए हमारे साथ खेलें, तब हम उनके सामने पुरानी चीज का उपयोग करें, तुम समझती हो, इसमें हमारी हेठी नहीं होती ? फिर अगर नई चीजें कम खरीदी जायेंगी, तो उन चीजों को बनाने वाले कारीगरों और मजदूरों की रोजी कैसे चलेगी ? उद्योगधन्धों का विकास कैसे होगा ?"

बिलकुल ठीक स्मरण तो नहीं है, उसने क्या कहा था ? पर ऐसा कुछ जरूर कहा था कि बाबू ने मुस्कराते हुए अम्मा से कह दिया था—"उपेन्द्र ठीक कहता है। उसे नई पिचकारी लाकर देनी पड़ेगी।"

'ऐसी बात नहीं है' उपेन्द्र सोचता है कि बाबू में कभी न्याय-भावना की कमी रही हो। उन दिनों मैं हाई स्कूल में पढ़ता था। शायद नवीं कक्षा में था। पढ़ता क्या था, पढ़ने का अभिनय करता था। दिन-भर इसी श्यामबिहारी के साथ ताश खेलता रहता और स्कूल से छुट्टी होने के समय घर लौट आता। अन्त में नवीं कक्षा में फेल हो गया। बाबू ने कहा—"अब तुम्हारा वह मान-सम्मान कहाँ गया ? तुम्हारे साथ के लड़के दसवीं कक्षा में पढ़ेंगे और तुम पुनः उसी नवीं कक्षा में बैठोगे, यह तुमसे सहा कैसे जायगा !"

उसने उत्तर दिया—"मैं उस स्कूल में पढ़ूँगा ही नहीं। दूसरे स्कूल में पढ़ने

का प्रबन्ध मैंने कर लिया है।"

बाबू बोले—"पर उस स्कूल में भी दसवीं कक्षा में तो तुम्हारा नाम लिखा नहीं जा सकता।"

उसने उत्तर दिया था—"मैं बिना लिखवाये पढ़ूँगा और परीक्षा में प्राईवेट अभ्यर्थी के रूप में बैठूँगा। अपना एक वर्ष मैं बरबाद न होने दूँगा किसी तरह।"

तब बाबू ने कहा था—"यद्यपि ऐसा करना नियम-विरुद्ध होगा। लेकिन अगर तुमने हाई स्कूल की परीक्षा इस तरह पारित कर ली और श्रेणी तुम्हें कहीं द्वितीय भी मिल गई, तो मैं तुम्हें नया गरम सूट बनवा दूँगा।"

उपेन्द्र सोचता है—'और बाबू ने वह सूट मेरी रुचि का ही बनवा दिया था।'

उपेन्द्र उस दिन बड़ी रात तक मंजु से बातें करता रहा।

उदास गम्भीर मंजु बोली—"तुम्हारी सनक में पड़कर ही मुझे सास-ससुर के प्यार से विमुख होना पड़ा। सुरेन्द्र तो इतने आदर की दृष्टि से देखता था कि उसकी याद करके मुझे रोना आता है। और कान्ति बीबी के लिए तो मैं कभी कुछ कर ही न सकी। कई महीने हो गये, तुमने सुरेन्द्र को एक पत्र तक नहीं लिखा। न जाने अम्मा जी की कैसी तबीयत हो!"

उपेन्द्र सुरेन्द्र का नाम सुनकर फिर उन्मन हो गया। बोला—"क्या लिखूँ उसे और कैसे लिखूँ? उसके विवाह के निमन्त्रण तक में तो सम्मिलित हो न सका। तुम कहने लगीं, मुझे सौ नहीं तो पचास रुपये नकद चाहिये और देवरानी को मुँह दिखाई देने के लिए कोई सोने की चीज अलग। बताओ, मैं कहाँ से लाता इतनी रकम? जब कभी मैं इन रूढ़ियों और प्रथाओं के विरोध में बोल उठता हूँ, तब तुम नाक-भौं सिकोड़ने लगती हो। यहाँ सीने में एक भट्टी सदा सुलगा करती है। मैं उस समाज से घृणा करता हूँ, जो स्नेह और आत्मीयता के पावन प्रसंगों में सम्पन्नता, ऐश्वर्य और वैभव-परक आदान-प्रदान को महत्त्व देते हैं।"

मुस्कराती हुई मंजु बोली—"पर उपदेश कुशल बहुतेरे। मेरे यहाँ तुमने भी ऐसा ही नाटक खेला था।" उपेन्द्र हँस पड़ा। बोला—"वह मेरा लड़कपन था। फिर जैसा कि मैंने उस समय भी तुम्हें बतलाया था—जो कुछ मैंने किया, तुम्हारी स्थिति बनाने के लिए किया।"

मंजु ने स्वीकार किया—"हाँ, यह तो तुम ठीक कहते हो। खैर छोड़ो इस प्रसंग को। अब यह बताओ कि सुरेन्द्र को चिट्ठी डालने में तो वैभव-प्रदर्शन की ऐसी कोई शर्त रहती नहीं। कुशल-क्षेम का समाचार पूछने में तो तुम्हारे सीने की भट्टी के जलने का कोई प्रश्न उठता नहीं।"

"उठता कैसे नहीं है।" उपेन्द्र बोला—"तुम्हें पता नहीं, श्यामबिहारी का पत्र आया था, जिसमें उसने लिखा था कि सुरेन्द्र कोई इन्स्पेक्टर हो गया है। अब मैं तुम्हीं से पूछता हूँ, क्या सुरेन्द्र मुझको खुशी का यह समाचार भी नहीं दे सकता था ?"

"दे सकता था" मंजु बोली—"लेकिन यह तो कोई बात न हुई कि अगर वह कहीं भ्रमवश तुम्हारी याद न करे, तो तुम भी यही व्यक्त करो कि मुझे तुम्हारी रत्ती-भर भी परवा नहीं है। इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि प्रेम और स्नेह के पवित्र सम्बन्धों में भी प्रतिहिंसा की भावना को तुम उपयोगी स्वीकार करते हो।"

उपेन्द्र कभी हार स्वीकार नहीं करता। उस समय भी नहीं, जब वह चारों खाने चित हो जाता है। अतः जब उसे और कुछ न सूझा तो उसने उत्तर दिया—"जाओ जाओ, झट से अँगीठी सुलगाओ। देवेन्द्र आता होगा। जीवन-दर्शन के इन सूक्ष्म सूत्रों की सव्याख्या समझाने का यह अवसर नहीं।"

देवेन्द्र अभी आ भी न पाया था कि उपेन्द्र मंजु के पास जा पहुँचा और बोला—"तुमने अभी पूछा था कि प्रेम और स्नेह के पावन सम्बन्धों में प्रतिहिंसा की भावना की क्या उपयोगिता है ? मेरा कहना है कि जीवन-मूल्यों का कोई निकष ऐसा कोरा नहीं, जिस पर स्वाभिमान और अहम् की स्वर्ण-रेखाओं ने अपनी छाप न डाली हो। एक बात। दूसरी बात मुझे यह कहनी है, कि इस जगत् का कोई भी व्यक्ति इतना अकेला नहीं है कि सामाजिक जीवन-मूल्य कभी-न-कभी उसे मर्माघात न पहुँचाते हों। मेरा देवेन्द्र जिस दिन किसी उच्च पद पर होगा, उसी दिन मैं सुरेन्द्र के यहाँ जाऊँगा और बड़े प्रेम से उससे मिलूँगा।"

मंजु ने अँगीठी पर चाय का पानी चढ़ा दिया था।

कालान्तर में फिर एक दिन ऐसा आया कि उपेन्द्र ने देवेन्द्र से कह दिया—

"याद है बेटा, किसी प्रसंग में कभी तुमने कहा था—'हाँ, और आगे ?' तब मैंने उत्तर दिया था—आगे की बात फिर कभी बतलाऊँगा ।"

देवेन्द्र का उत्तर था—"और लोग जैसे रकमें उधार कर दिया करते हैं, आप वैसे ही विचारों को उधार कर देते हैं । अच्छा—हाँ, कहिये ।"

तब उपेन्द्र बोला—"मैं कोई भविष्यवक्ता नहीं हूँ । भविष्य-कथन के प्रामाणिक पक्ष पर मेरी ऐसी कोई विशेष आस्था भी नहीं है । लेकिर इतना मैं जानता हूँ कि यदि तुम उच्चतर महत्त्व का स्थान प्राप्त कर सके, तो हो सकता है कि मेरा दीर्घकालीन स्वप्न शीघ्र पूरा हो जाय ।"

इस बार फिर देवेन्द्र मुस्कराता हुआ बोला—"अर्थात् ?"

"अर्थात् यह कि तुम इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस के चुनाव में भी स्थान पा जाओ ।"

संसार अपनी गति से चलता रहता है । दृढ़ संकल्प, अटूट संलग्नता और अत्यधिक परिश्रम से कोई व्यक्ति दुर्बल होते-होते हो सकता है कि जल्दी ही वृद्ध दिखाई देने लगे; लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि धैर्यशील, अध्यवसायी का कोई संकल्प कभी सर्वथा अधूरा रह जाय । फलतः होते-करते वह दिन भी निकट आ गया जब देवेन्द्र ने आई०ए०एस० की प्रतियोगिता में भी द्वितीय स्थान प्राप्त कर लिया ।

आकांक्षाओं की पूर्त्ति का क्रमिक इतिहास कभी-कभी बड़ा ही विस्मयकारक होता है । उन्नति की इतनी लम्बी यात्रा तय करने में ऐसे दिन भी आये हैं जब उपेन्द्र ने अनुभव किया कि अब अगर यह देवेन्द्र विवाह कर ले तो कितना अच्छा हो !

एक दिन ऐसा भी आया, जब उपेन्द्र ने खांसते-खाँसते प्रश्न कर दिया—"जरा यहाँ आना बेटे । आज तुमसे कुछ जरूरी बात करनी है मुझे ।"

"नहीं डैडी, इस वक्त तो हम एक जरूरी काम से लखनऊ जा रहे हैं । आपको पता नहीं मुझे अपने प्रदेश के एक मान्य उपमन्त्री से मिलना है । अभी-अभी फोन से बात करके मैं उनके पी०ए० से वचन ले आया हूँ, इसलिए इस समय मैं किसी प्रकार की गम्भीर वार्ता करने के पक्ष में नहीं हूँ ।"

_ इतना कहते-कहते और हाथ घड़ी देखते हुए वह बोला—मुझे अभी तुरन्त

डी-लक्स बस पकड़नी है । बात यह है डैडी कि नियुक्ति-पत्र मिलने से पहले ही मैं यह तय कर लेना चाहता हूँ कि कहाँ रहना मेरे लिए अधिक सुविधाजनक होगा ।"

पुलक हास के साथ उपेन्द्र बोला—"मैं ऐसा कुछ नहीं जानता था बेटे कि आजकल तुम इतने व्यस्त हो । सचमुच इतने व्यस्त हो कि मुझसे बातें करने के लिए दस मिनट निकालना भी तुम्हारे लिए कठिन हो गया है । जबकि वह बात कुछ इस तरह की है कि उसे सुनकर तुमको प्रसन्नता ही नहीं होगी, वरन् एक प्रेरणा भी मिलेगी ।"

प्रसन्नता के बाद प्रेरणा शब्द सुनकर देवेन्द्र ने घड़ी की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"अच्छी बात है डैडी, पाँच मिनट के अन्दर...!"

"अरसा हुआ तुम्हारे विवाह के सम्बन्ध में कई लोग मेरे पीछे पड़े हुए थे । लेकिन अब तक मैं तुम्हारी पढ़ाई की वजह से कुछ निश्चय करने की परिस्थिति में नहीं था । लेकिन आज कृष्णमुरारी मिलने आ रहे हैं और तुम्हें मालूम होना चाहिए कि वे अपने क्षेत्र के शिक्षा-विभागीय अधीक्षक भी हैं । पच्चीस हजार रुपये से उन्होंने बात उठाई है । लड़की ने समाजशास्त्र से एम०ए० किया है । रूप-रंग भी उसका अच्छा है । सुन्दर है वह । मुझे बहुत पसंद आई । इसलिए मैंने यह सम्बन्ध तय कर लिया है ।"

उपेन्द्र इसके आगे भी कुछ कहना चाहता था, पर तभी देवेन्द्र आश्चर्य के साथ बोल उठा—"क्या कहा ? तय कर लिया है, आप यह कह क्या रहे हैं डैडी ? विवाह मेरा और तय करेंगे आप ! जिस लड़की को मैंने देखा नहीं, परखा नहीं, जिससे मेरा कोई परिचय नहीं, जिसके सम्बन्ध में घड़ी भर सोचने का मुझे अवसर नहीं मिला, उसके साथ मैं विवाह कर लूँगा—मैं ! आप समझते क्या हैं मुझे !"

"मगर बेटा, यह मेरी बात का प्रश्न है, यों समझ लो कि प्रतिष्ठा का प्रश्न है । मैंने उनको वचन दे दिया है । जरा सोचो...!"

आवेश को दबाता हुआ देवेन्द्र बोला—"सोचना तो पहले आपको चाहिये था । मैं इस विषय में कुछ नहीं कह सकता । आपको मेरा विवाह तय करने का अधिकार ही क्या है ?"

इतना कहकर देवेन्द्र घड़ी देखता हुआ बोला—"अच्छा, अब मैं जाता हूँ। टाइम हो गया।"

और उपेन्द्र सोचता है कि यह मैं क्या देख रहा हूँ—क्या सुन रहा हूँ! मैंने ऐसी कभी देवेन्द्र से आशा नहीं की थी।

आशा जिस पर इस जगत् की सारी गतिविधि निर्भर रहती है, भविष्य के सारे कार्यक्रम जिसके आधार पर शृंखलाबद्ध रूप से चला करते हैं। आशा, जो व्यक्तियों के पारस्परिक सामाजिक जीवन-मूल्यों की एक नैसर्गिक निर्णय-पीठिका होती है, देवेन्द्र के ही जीवन में नहीं, मेरे भी जीवन में कभी थी और आज भी है।

सोचते-सोचते उपेन्द्र अपने जीवन-क्रम के ऐतिहासिक अध्याय उलटते-पलटते पहुँच गया काशीबाबू के जीवन में घटित हुए उस मोड़ पर, जब कभी उन्होंने भी सोचा होगा कि मैं इस उपेन्द्र से ऐसी आशा नहीं करता था।

जैसे एक दीपक की लौ से दूसरे दीपक की बाती जल उठती है, ठीक उसी भाँति उपेन्द्र को काशीबाबू के तत्कालीन आशा-स्वप्नों ने चौंका दिया।

यह कालविजयी जीवन अब जितना आगे बढ़ आया है, उपेन्द्र बाबू की शारीरिक शक्ति-सम्पदा उतनी ही क्षीण हो चुकी है। विवाह हो जाने के पश्चात्, अब तक के जीवन में, सम्पत्ति के नाम पर जिस उपेन्द्र ने कुछ भी संचय नहीं किया, केवल इसलिए कि सम्पत्ति और वैभव की स्थिति बड़ी अस्थिर और चंचल होती है। धनोपार्जन की अपेक्षा देवेन्द्र का भविष्य-निर्माण उपेन्द्र के लिए अधिक महत्त्व की वस्तु थी।

आज और कुछ स्वप्न उभर रहे हैं। जिस मंजु को देखकर वह अपने जीवन का सारा संघर्ष भूल जाया करता था, वही मंजु अब वर्षों की निरन्तर अस्वस्थता से एकदम चारपाई से लग गई है। और उपेन्द्र सोचता है कि मेरा बेटा देवेन्द्र शीघ्र ही कहीं किसी नगर का सबसे बड़ा अधिकारी बनेगा।

उपेन्द्र कभी अपने शरीर में पड़ी हुई झुर्रियों को देखता है और कभी सिर के श्वेत हो गये केशों और हँसली की खुली उभरी हुई अस्थियों के इस स्वरूप-गर्भित मर्म को, तो उसे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सारी आशाएँ मिलकर मृग-मरीचिका

से अधिक कुछ नहीं हैं !

और उपेन्द्र सोचता है, मेरे शरीर की स्थिति भी कितनी चिंत्य हो चली है। एक आँख से दिखाई कम देने लगा है। अभी एक सप्ताह नहीं हुआ उसकी एक दाढ़ में चौबीस घंटे निरन्तर असह्य पीड़ा होती रही। अन्त में उस दाढ़ को एक डैंटिस्ट द्वारा निकलवा ही देना पड़ा। एक पैर की गाँठ में सदा दर्द बना रहता है। पर अब प्रश्न यह है कि जीवन के ये सारे कष्ट भी वह जिस आशा के बल पर भूला रहता था, उसका महत्त्व क्या है ? क्या इसी परिणाम के लिए उसने देवेन्द्र को इस योग्य बनाया था ?

खाँसता हुआ उपेन्द्र मंजु के पास जा पहुँचा, जो तीन दिन से ज्वराक्रान्त थी।

कहते हैं जब दुःख, आघात और पीड़ा की मात्रा सीमा पार कर जाती है तब आँखों में आँसू नहीं आते। हृदय में जल उठनेवाली भट्टी उन आँसुओं को सोख लेती है। आँगन से चिल्लाता हुआ उपेन्द्र भीतर आते हुए बोला—"सुनती हो मंजु, तुम्हारे लाड़ले बेटे ने मुझे क्या जवाब दिया।"

मंजु ने स्वामी के मुख की ओर एकटक देखते-देखते लेटे-लेटे धीरे-से कह दिया—"क्या उत्तर दिया, बतलाओ न ?"

एक निःश्वास के साथ उपेन्द्र बोल उठा—"तुम्हारे सपूत का कहना है कि मेरे विवाह को तय करने का आपको अधिकार ही क्या है ?" इसके बाद उपेन्द्र से कुछ कहा नहीं गया और इसके बाद मंजु भी कुछ न बोल सकी।

लेकिन हृदय की सुलगती हुई भट्टी मे लपलपाती हुई लपटें जो निकलती हैं, उनसे भी शब्द-सृष्टि होती हैं, स्वर-विस्फोट होता है।

थोड़ी देर बाद उपेन्द्र कहने लगता है—"तुम्हारे सब मिलाकर नौ बच्चे हुए, जिनमें पहला यह देवेन्द्र है। बुरा न मानना मंजु, अभी-अभी मेरे मन में एक बात आई थी कि अगर उन बच्चों की तरह यह देवेन्द्र भी समाप्त हो गया होता तो शायद मेरी यह दयनीय स्थिति न होती !" यह उसी उपेन्द्र का कथन था, जो स्वार्थ-लिप्सा को ही जीवन की चिरंतन रूपरेखा मानता आ रहा था। अपनी जीवन-संगिनी मंजु के प्रेमोन्माद में पड़कर जो काशीबाबू जैसे पुरुषोत्तम का अपमान करते नहीं हिचका था।

पर मंजु का स्वर नहीं बदलता। उसका उत्तर था—"हमारे सौभाग्य को लोग कितनी ईर्ष्या की दृष्टि से देखते है, इसी देवेन्द्र के कारण।"

"वह समय चला गया, और मैं सोचता हूँ कि सदा के लिए चला गया। अरे तुमको सुझाई नहीं देता कि आज उसने मुझे टका-सा जवाब दे दिया। उसने मेरे मुँह पर कह दिया कि विवाह होगा मेरा और उसको तय करेंगे आप! नामुमकिन। आपको इसका कोई अधिकार नहीं है—किसी तरह नहीं है।"

और अपने इस कथन को अत्यधिक जोर से कहने के कारण उपेन्द्र को फिर खाँसी आ गई।

मंजु धीरे-से उठकर बैठ गई और पलंग के नीचे ग्लाइकोडीन टरप वसाका की जो शीशी रक्खी हुई थी, उसको, एक चम्मच में गिराकर उपेन्द्र के मुँह के सामने ले जाती हुई बोली—"लो, पी लो।" फिर थोड़ा ठहरकर बोली—"चम्मच में जो बाकी बचा है उसको भी चाट लो।" जब उपेन्द्र की खाँसी कुछ शान्त हुई तब उससे कहा—"तुमको थोड़ा धीरज रखना चाहिए देवेन्द्र के डैडी, इतना अधिक उत्तेजित होने की आवश्यकता नहीं।"

"तुम मेरे आघात को समझ नहीं पा रही हो मंजु, इसलिए ऐसा कहती हो।"

"मेरी समझ में नहीं आता कि जिस विचार के तुम स्वयं रहे हो, उसी को जब अपने जीवन में, देवेन्द्र द्वारा चरितार्थ होते देखते हो, तो उसका नाम रखते हो आघात। याद नहीं आता, यही जवाब तुमने बाबूजी को दिया था? और आज जब उसके आगे का जवाब मिल रहा है, तब तुम्हें बुरा लगता है! इस अवसर पर तुम यह क्यों नहीं सोचते कि यही इस अनोखी सृष्टि की चिरन्तन परम्परा है।"

"तुमको कुछ मालूम नहीं है मंजु। मूल बात कुछ और है। तुमको मालूम होना चाहिये कि अधिकार का प्रश्न मेरे सामने तब आया था, जब तुम मेरे जीवन में आ चुकी थीं। मुझसे पूछे बिना उन्होंने तुम्हारी विदा कर दी थी। परिणामस्वरूप तब मैंने सोचा कि इन्होंने मेरा नहीं, तुम्हारे प्रेम का अपमान किया है। लेकिन इसके इनकार में तो स्थिति ही दूसरी है।"

"तुम्हारा मतलब क्या है, मैं समझी नहीं।"

"मतलब यह है कि अपने विवाह में मेरे सहयोग के अस्तित्व तक के मानने

में इसे आपत्ति है । इसका कहना तो यह है कि मेरे विवाह के सम्बन्ध में बात करने का भी आपको अधिकार नहीं है ।" खिचड़ी हो रहे केशों, पिचके जा रहे मुख और कुछ गिरे हुए दाँतों की अपरूप भंगिमा में भी अस्वस्थ मंजु के अधरों पर एक फीकी मुस्कान झलक उठी । वह बोली—"अरे तो क्या हुआ ! बेटा तो तुम्हारा ही है । पहले तुमने अपने पिता के अधिकारों की उपेक्षा की, पहले तुमने पुरानी परम्परा को एकदम से तोड़ दिया; अब अगर तुम्हारी संतान तुम्हारी मान्यताओं की उपेक्षा कर रही है, तुम्हारी मानी हुई नीति-रीति सम्बन्धी लकीरों को काट रही है, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है और दुःखी होने की गुंजाइश इसमें कहाँ है ? यही तो सृष्टि का नियम है ।"

उपेन्द्र फिर अन्तर्मुखी हो गया । रात आई और उपेन्द्र दो बजे तक करवटें बदलता रहा । सिगरेट-पर-सिगरेट पीता रहा । बुझी हुई सिगरेटों के टुकड़ों से उसकी ऐश-ट्रे भर गई । कई बार उसने बत्ती जलाई और बुझा दी । कभी लेटा रहा, कभी उठकर बैठ गया । एकाध बार तो मंजु की नींद भी टूट गई और वह बोली—"अरे तुम सोये नहीं !" उपेन्द्र ने कोई उत्तर नहीं दिया । पीठ की ओर कमर में एक हाथ से दूसरा हाथ थामे वह इधर-से-उधर टहलता रहा । फिर कुछ सोचकर अलमारी से उसने एक पुस्तक निकाली, एक संवाद पढ़ा, जिसकी शब्दावली थी—अब कहीं कुछ नहीं है । यह संसार एक बहुत बड़ा शून्य है । अगर हमारे अस्तित्व की कोई सत्ता नहीं है तो फिर हमारे लिए इस संसार की भी कोई सत्ता नहीं है । वास्तव में हम सब एक बहुत बड़े भ्रम में हैं । कहीं कुछ नहीं है । जब मनुष्य के वे आधार ही नष्ट हो गये, जिनसे वह कुछ आशा रखता है, तब वह किस विश्वास पर जिये ।

सिगरेट के शेष भाग को ऐश-ट्रे में दबाकर जब उसने एकदम-से बुझा दिया, तब बिजली की बत्ती भी उसने बुझा दी । फिर जब वह लेटा तो चादर को ऊपर डालकर उसने अपना सिर भी पूरी तरह ढक लिया ।

अब उसने देखा चारों ओर अन्धकार है । उसने अनुभव किया और सच-मुच कहीं कुछ नहीं है । कई बार वह निःश्वास-पर-निःश्वास लेता रहा ।

अब आँखों में कड़ुआहट आ चुकी थी । एक बार उसने सोचा—'जीवन मेरा

यह चिन्तन है, अथवा मेरा कृतित्व, मेरी कर्म-लीला ?

'कदाचित् केवल कर्म।

'कदाचित् केवल चिन्तन।

'कदाचित् दोनों, क्योंकि संघर्ष ही जीवन का दूसरा नाम है।' फिर इसी उधेड़बुन में उसे नींद आ गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही मंजु उठ चुकी थी। लेकिन उपेन्द्र देर तक सोता रहा। फिर जब आठ बज गये, तो मंजु बोली—"अरे क्या आज उठोगे नहीं ?"

'वाह ? क्या बात कह रही है मंजु !' सोचता हुआ उपेन्द्र उठकर बैठ गया। पहले तो वह थोड़ा मुस्कराया, फिर कुछ सोचता हुआ गम्भीर हो गया। मन में आया कि पूछूँ कि न पूछूँ ! तब तक मंजु ने कह दिया—"देवेन्द्र पूछ रहा था, डैडी कुछ कहते तो न थे ?"

अब उपेन्द्र ने अपनी ही स्थिति पर मुस्कराते हुए कह दिया—"शायद तुम ठीक कहती थीं।"

बहुतेरी कल्पनाएँ स्वप्न की भाँति आधारहीन, किन्तु अलौकिक सुन्दर होती हैं। पर कुछ ऐसी कल्पनाएँ भी होती हैं, जो अपनी एक पृष्ठ-भूमि रखती हैं।

कुछ सप्ताह बाद एक दिन देवेन्द्र एक नवयुवती और उसके भाई को साथ लेकर उसी कमरे में जा पहुँचा, जहाँ उपेन्द्र और मंजु दोनों चाय पर बैठे हुए थे।

दोनों का सामान्य परिचय देते हुए देवेन्द्र बोला—"ये लोग तारीख पूछ रहे थे।"

इतने में गोपालकृष्ण बोला—"आपको मालूम ही हुआ होगा कि सारी बातें किस प्रकार निश्चित हुईं ?"

मंजु तो गोपालकृष्ण के मुख की ओर एकटक देखती रह गई और उपेन्द्र के मन में आया कि सचमुच आज की सभ्यता में कृत्रिमता का बड़ा महत्त्व है। जो तुम नहीं हो, उसके लिए तुम्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि तुम हो। पर फिर आवश्यकता पड़ने पर हो सकता है कि तुम्हें स्पष्ट रूप से यह भी कहना पड़ जाय कि जो तुम वास्तव में हो, वह इस क्षण नहीं हो !

उपेन्द्र ने फिर सोचा—तात्पर्य यह कि इस अवसर पर मुझे यह कह देने का

अधिकार नहीं है कि मुझे कुछ भी बतलाया नहीं गया। जब सारी बातें निश्चित हो चुकीं तो औपचारिकता के नाते देवेन्द्र मुझसे केवल इतना ही कह रहा है कि विवाह का मुहूर्त यानी उसकी तारीख और समय आप इन लोगों को बता दीजिये।

इसी समय मंजु उठकर खड़ी हो गई। वह तरुलता के कन्धे पर हाथ रखकर बोली—"आओ बेटी।" तब वह उसे दूसरे कमरे में ले आई। चलते समय उसने उपेन्द्र से कह दिया—"आचार्यजी को बुलवाकर विवाह का मुहूर्त इनको बता दो। मगर तुम कहाँ जाओगे ? यहीं बैठो। इनको चाय-वाय पिलाओ। महरी को भेजकर मैं आचार्यजी को यहीं बुलवाये लेती हूँ।"

देवेन्द्र उस कमरे से चलते समय गोपालकृष्ण को भी साथ ले आया था। अब वह उसके साथ अपने कमरे में बैठा हुआ विवाह के अवसर पर होनेवाले प्रीति-भोज की संयोजना कर रहा था। रेडियो से संगीत की मधुर ध्वनि प्रसारित हो रही थी। शब्दावली का तो उसमें अभाव था, किन्तु ध्वनि थी 'संगम होगा कि नहीं' वाले गीत की। अतः देवेन्द्र कभी-कभी गोपालकृष्ण की ओर उन्मुख होकर देखने लगता कि इस गीत की ध्वनि की इस पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है। थोड़ी देर बाद जब तरुलता गोपालकृष्ण के साथ गाड़ी पर बैठकर जाने लगी तो उसके गले में मंजु का वही हार था जो काशीबाबू ने विवाह के अवसर पर चढ़ावे में भेजा था।

लोग कहते हैं—बीस वर्ष में युग बदलता है। कुछ लोगों का विचार है बारह वर्ष में। इससे नीचे वाली काल-सीमा का नाम है दशक। लेकिन युग-परिवर्तन की प्रक्रिया तो सतत प्रवहमान रहती है।

देवेन्द्र का विवाह हुए अभी केवल डेढ़ वर्ष व्यतीत हुआ था। इसी अवधि में तरुलता ने जीवन की यथार्थता का बहुत-कुछ परिचय प्राप्त कर लिया था। उसकी गोद में एक बच्चा था, जो अब छह मास का हो चुका था। इस बच्चे के पालन-पोषण में तरुलता इतनी संलग्न, लीन और विलय रहने लगी थी कि उसका स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरता जा रहा था।

देवेन्द्रबाबू अब फैजाबाद में डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट थे। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य को अपने स्वास्थ्य का ध्यान स्वय रखना चाहिये। किन्तु तरुलता को अपने

स्थान पर पालन-पोषण की विधाओं में प्रमुख ध्यान रहता था अपने नवजात शिशु के स्वास्थ्य का। सामान्य रूप से देवेन्द्र का मत था कि बच्चों को अपना स्तन्य पान न कराकर उन्हें ग्लेक्सो का दूध बनाकर पिलाना चाहिये। किन्तु तरुलता इसके विपरीत थी। वह अपने स्वामी के साथ क्लब में जाने के लिए तत्पर होते समय अपने शिशु को साथ रखती। किन्तु देवेन्द्र का कहना था कि बच्चे को आया के पास छोड़ जाने में कोई हानि नहीं है। एकाध बार जब वह बच्चे को साथ ले गई और संयोग से वह क्लब के वातावरण की नवीनता से प्रभावित होकर रोने लगा तो साहब बोले—"इसीलिए मैं कहता था कि यह सब झंझट है। इसको तो वहीं छोड़ आना चाहिये था।" फिर इसी विषय को लेकर जब देवेन्द्र ने तरुलता से आग्रह किया कि तुम मेरे साथ चलो, तो तरुलता ने जवाब दिया कि बच्चे को छोड़कर मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकती।

पत्नी से परिपूर्ण नकारात्मक उत्तर पाकर देवेन्द्र आवेश में आ गया। वह बोला—"तुम अगर मेरी अवज्ञा करोगी तो इसका परिणाम अच्छा न होगा। मैं पहले ही जानता था कि हमारे असभ्य देश की ये स्त्रियाँ बी०ए० कर लेने पर भी वास्तव में गँवार ही बनी रहती हैं। और मैं, एक तुम तो क्या, सम्पूर्ण गँवार जाति से घृणा करता हूँ।"

इस वार्तालाप का परिणाम यह हुआ कि तरुलता को साहब के सामने झुकना पड़ा। औपचारिक रूप में उसने साहब की सारी बातें मानना प्रारम्भ कर दिया।

अब तरुलता का मन गिर गया था। वह सदा यही सोचती रहती कि जो नारी अपनी जीवन-धारा प्रवाहित करने में तनिक भी स्वाधीन नहीं, उसका फिर कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भी नहीं। वह खाना अपने मन से नहीं, स्वामी के मन से खाती। पेय पदार्थों में भी उसकी अपनी रुचि का कोई मूल्य न रह गया था। वह स्वामी के साथ क्लब में अवश्य जाती, किन्तु वहाँ वह किसी से अपने गृह-जीवन के सम्बन्ध में स्वेच्छा से एक शब्द तक न कह सकती थी। स्वामी की इच्छा के साथ वह इस सीमा तक विलय हो गई थी कि परिपूर्ण विश्राम उसे मिल ही न पाता।

बच्चा आया के पास पड़ा रहता। अब वह खेलता कम था रोता अधिक था। फिर वह बीमार पड़ गया। और उसको देखने के लिए एक डाक्टर नित्य आने लगा।

एक दिन देवेन्द्र ने कहा—"चलो, आज सिनेमा देखने का कार्यक्रम है।"

तरुलता बोली—"बच्चा इतना बीमार है और तुम सिनेमा देखने के लिए कह रहे हो !"

साहब बोले—"मगर इस समय तो उसको ज्वर है नहीं।" शंकालु तरुलता बोली—"तो क्या हुआ ? माना कि इस समय नहीं है, लेकिन थोड़ी देर में अगर फिर आ जाय तो ? या जागने पर मुझे न पाकर रोने लगे तो ?"

"तुम हमेशा विपक्ष की बात सोचती हो तरु। यही तुम्हारी सबसे बड़ी दुर्बलता है। तुम्हें मालूम है कि हमारे क्लब के सभी मेम्बर सपत्नीक आते हैं। आज तुम मेरे साथ न रहोगी तो मेरी पद-मर्यादा का कितना अपमान होगा !·· जल्दी करो।"

और भवितव्यता किसी का मुँह नहीं देखती। वह यह भी नहीं देखती कि मेरा निर्णय जिसके विरोध में जा रहा है, वह इस नगर का कितना बड़ा आदमी है ! परिणाम यह हुआ कि रात को डेढ़ बजे जब दोनों बँगले पर लौटे, तब साहब तो कपड़े बदलने चले गये, पर तरुलता सीधे बच्चे के पास जा पहुँची। पहले तो उसे यह जानकर संतोष हुआ कि वह सो रहा है। किन्तु ज्योंही उसने ध्यान से देखा, फिर उसका तापमान देखने की इच्छा से उसके बदन पर हाथ रक्खा; त्योंही वह चीत्कार कर उठी !

साहब अभी कपड़े नहीं बदल पाये थे, केवल बुश शर्ट उतार सके थे। वे भी जल्दी से दौड़ते हुए बोले—"क्या हुआ, क्या हुआ !"

रुदन के स्वरों में तरुलता ने उत्तर दिया—"वही हुआ, जो तुम चाहते थे। बेबी तुम्हारे लिए झंझट था न ?"

१३

एकरसता प्रकृति का एक ऐसा लक्षण और गुण है जो कहीं अनुकूल और

कहीं सर्वथा प्रतिकूल भासित होता रहता है। बेबी के विदा हो जाने पर देवेन्द्र सोचता—'यह हो क्या गया! हम दोनों ने मिलकर जिस खिलौने की रचना की थी, बात की बात में वह चला कैसे गया!' लेकिन देवेन्द्र का यह देवपक्ष था। इसके विपरीत जब कभी वह तरुलता को अपने साथ क्लब जाने के लिए कहता तो वह मन-ही-मन यह भी कह लेता कि चलो, बेबी के कारण कभी-कभी जो आपस में वाक्‌युद्ध हो जाया करता था, वह तो बन्द हुआ!

यह उसका पशु-पक्ष था। किन्तु देवेन्द्र ने जैसा कुछ सोचा था, वैसा सम्भव हो नहीं सका; क्योंकि अब तरुलता के मन में यह बात अच्छी तरह से घर कर गई थी कि भगवान् की इच्छा के बिना पत्ता तक नहीं हिलता। फैजाबाद में एकाध जगह दूर की नातेदारी का सम्बन्ध निकल आया था। एक लड़की थी शैलजा, जो उसके मामा की साली होती थी। कभी-कभी वह तरुलता के बँगले पर भी आती रहती। एक थी रेलवे के डिवीजनल सुपरिण्टेण्डेण्ट की लड़की, जो उसकी सहपाठिनी थी। उसने अंग्रेजी और संस्कृत से एम०ए० किया था। उसका नाम था जयजयवन्ती। दोनों ही धार्मिक विचारों की थीं। बेबी की मृत्यु के बाद जब शैलजा और जयजयवन्ती साहब की अनुपस्थिति में उसके यहाँ गईं तो उन्होंने बतलाया कि संतान की उत्पत्ति और दीर्घ जीवन के लिए रविवार का उपवास बड़ा ही गुणकारी होता है। परिणाम यह हुआ कि तरुलता रविवार का उपवास करने लगी। स्पष्ट था कि रविवार के दिन जब क्लब में विशेष भोज की व्यवस्था रहती तभी तरुलता स्वामी के साथ जाने से इनकार कर देती!

प्रारम्भ में तो साहब को तरुलता का यह असहयोग बहुत खटकता था, किन्तु जब उसने देखा कि वह इस विषय में मेरे साथ समन्वय नहीं स्थापित कर सकेगी, तब उसने फिर उसे इस विषय में उलहना देना छोड़ दिया।

ढलान पाकर जैसे जल ढुलकता हुआ चलने और भागने लगता है, वैसे ही जीवन भी ढलान पाकर अपना एक-न-एक रास्ता खोज लेता है। कालान्तर में क्लब में ही डॉक्टर मिस रश्मि पाल के साथ साहब का कुछ ऐसा सम्पर्क स्थापित हो गया कि दोनों एक-दूसरे के मित्र बन गये। मिस पाल अवकाश-प्राप्त सेशन जज की लड़की थी। उसका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक और प्रभावशाली था। देवेन्द्र का

मत था कि जीवन के बहुतेरे प्रच्छन्न कार्य-कलाप कभी प्रकाश में नहीं आते यदि उनके कर्त्ता बुद्धिवादी होते हैं।

लेकिन एक दिन जब मिस पाल के पिता ने साहब को अपने यहाँ आमंत्रित किया, तब वे चकित हो उठे। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची थी कि यदि वे तरुलता को तलाक़ न देते तो सेशन जज साहब उनकी नौकरी को संकट में डाल सकते थे।

प्रकृतिवादियों का कहना है कि आप चाहे जैसा बन्ध कर चलिये लेकिन सामाजिक अपराध को आप कभी धरती के नीचे दबाकर उसे सर्वथा नीरव तथा जड़ नहीं बना सकेंगे। बहुतेरे रहस्य उद्घाटन के बिना बहुधा मूक बने रहते हैं, किन्तु उनकी भी एक सीमा होती है। एक दिन आता है कि दम घुटने के कारण रहस्य स्वयं अपना मुँह खोल देता है।

एकाएक तरुलता बीमार पड़ गई। साहब जो कई दिन तक क्लब में नहीं गये और फ़ोन से कोई उत्तर भी मिस पाल को नहीं मिला, तो एक दिन वह साहब के बँगले पर जा पहुँची। तरुलता ने मिस पाल का भरपूर स्वागत-सत्कार किया, किन्तु उसी दिन से वह स्वामी को सन्देह की दृष्टि से देखने लगी।

इधर जब मंजु ने सुना कि बेबी के दिवंगत हो जाने के अनन्तर वह बीमार रहने लगी है तो वह स्वयं फैज़ाबाद जाकर तरुलता को अपने साथ ले आई।

दिन चल रहे थे और चलते हुए दिनों के साथ साहब का मानस-लोक भी विचलित हो उठा था। पहले तो साहब तरुलता के नाम पर ढाई सौ रुपये प्रति-मास भेजते रहे, पर फिर जब उन्होंने तरुलता को रुपया भेजना बन्द कर दिया, यहाँ तक कि उसके पत्र डालने पर भी देवेन्द्र ने कोई उत्तर न दिया, तब तरुलता वातावरण बदलने के विचार से अपने पिता के यहाँ नैनीताल चली गई।

बन्धन जीवन की स्वतन्त्र वृत्तियों के लिए बहुत घातक होते हैं किन्तु संयम और सायुज्य, दोनों का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कभी-कभी संयम के टूट जाने पर मनुष्य अपना महत्त्व ही नहीं खो देता, बौद्धिक गतिविधियों के नाना प्रयोगों में भी असफल हो जाता है। इसलिए कहा गया है कि प्रकृति एक ओर जीवन का पोषण करती है, दूसरी ओर सीमाओं के अतिक्रमण हो जाने पर उस की उस ऊर्जा और मेधा का भी विनाश सुनिश्चित हो जाता है, जो प्रगति और

श्री समृद्धि के संरक्षण और उसकी अभिवृद्धि के लिए आवश्यक होती है।

तरुलता और देवेन्द्र का मनोमालिन्य बढ़ता ही गया। यहाँ तक कि तरुलता ने अपने स्वामी को बंधनमुक्ति का ज्ञापन दे दिया। परिणाम यह हुआ कि एक दिन उपेन्द्र को डाक से अंग्रेजी में छपा हुआ एक ऐसा निमन्त्रण-पत्र देखने को मिल गया, जिसमें मिस रश्मि पाल के साथ देवेन्द्र के नवविवाह के अवसर पर होनें वाले प्रीति-भोज का उल्लेख था।

कई दिन तक उपेन्द्र और मंजु नित्य देवेन्द्र के क्रम-विकास के सम्बन्ध में नाना प्रकार की चर्चा करते रहे। उपेन्द्र का कथन था कि देवेन्द्र बहुत बदल गया है और मंजु का मत था कि जब हमारे जीवन-मूल्य ही स्थिर नहीं रह गये, तब देवेन्द्र का बदलना भी सर्वथा स्वाभाविक है। तुम उससे मतभेद रख सकते हो किन्तु यह लांछन उस पर नहीं लगा सकते कि उसका पतन हो गया है, या उसका चरित्रबल नष्ट हो गया है।

उपेन्द्र का उत्तर था—"अगर यह विवाह हो गया तो मैं तो कभी उसकी शक्ल देखूँगा नहीं!"

मंजु ने उत्तर दिया—"अगर का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। अब यह विवाह तो होगा ही। इसे रोक सकना सर्वथा असम्भव है। फिर जीवन के सारे आचार और धर्म परिस्थिति-जन्य हैं। बीमारी के कारण तुमको अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा, मेरे पास नकद और आभूषण के रूप में जो कुछ था वह सब भी समाप्त हो गया। अब तो एक ही मार्ग रह गया है कि इस वृद्धावस्था में हम लोग उसी के साथ रहें।"

उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"मेरी कमर टूट गई है मंजु, लेकिन अपने आदर्श और सिद्धान्त पर निरन्तर दृढ़ रहनेवाला मैं, मेरा व्यक्तित्व स्वाभिमान और गर्व अब भी तरुण बना हुआ है। इसलिए कान खोलकर सुन लो, मैं इस विवाह में किसी प्रकार का सहयोग न दूँगा।"

मंजु जब से अस्वस्थ हुई थी, तब से वह फिर सम्हल न पायी थी। धीरे-धीरे मन्द स्वर में उसने उत्तर दिया—"उसको समझने की चेष्टा करो देवेन्द्र के डैडी। मेरा कहना मानो, हठ छोड़ दो। जैसे भी हो, इस अवसर पर तुम मुझको उसके यहाँ ले चलो। विवाह के समय मेरे अंचल की छाया उसे मिलनी ही चाहिये। जब

बहू घर में आयेगी तो मेरी जगह उसकी परछन कौन करेगा ? सिर पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद कौन देगा ? उसका चाँद-सा मुखड़ा देखने के लिए उसके चिबुक पर अपनी तर्जनी कौन लगायेगा ?

उपेन्द्र ने उत्तर दिया—"तुम बहुत बड़े भ्रम में हो मंजु। हमारे जीवन-मूल्य बहुत बदल गये हैं। तुम समझती हो मिस पाल नाम की वह लड़की मुख पर कोई अवगुण्ठन डालकर आयेगी ? असम्भव। और क्या तुम समझती हो कि तुम्हारे आशीर्वाद के बिना उसके जीवन का पुलक आनन्द अपूर्ण रह जायगा ! भ्रम है, छलना है। अब इस माया को भूल जाओ मंजु। इतना ही समझ लो कि कोई किसी का नहीं है। मैं भी तुम्हारा नहीं हूँ।"

मंजु का मन मान नहीं रहा था। उसने उत्तर दिया—"अब चाहे जो हो, मैं तो इस अवसर पर उसके यहाँ अवश्य जाऊँगी।"

उपेन्द्र बोला—"और तरुलता बहू ? उसके ढुलकते हुए आँसुओं की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं गया ? मगर नहीं, शायद मैं ही भूल रहा हूँ। उस बेचारी की जीवन-सरिता तो सूख गई है। उसकी आँखों में आँसू अब रह कहाँ गये होंगे !

फिर एक निःश्वास के साथ वह बोला—"इधर बहुत दिनों से उसका कोई पत्र भी नहीं आया !"

दोनों में ये बातें हो ही रहीं थी कि उसी समय पोस्टमैन ने आकर एक पत्र उपेन्द्र के सामने कर दिया, जिसमें केवल चार पंक्तियाँ लिखी हुई थीं—

पूज्यपाद बाबू और अम्मा,

आपके दर्शनों के लिए कई दिनों से प्राण अटके हुए हैं। कह नहीं सकती कब क्या होगा ! ऐसे समय यदि...।

इन शब्दों के बाद उस पत्र में और कुछ लिखा हुआ न था। न तो उसमें तरुलता का नाम था, न अन्य कोई सन्देश।

बड़ी देर तक विचार-विमर्श के बाद स्थिर हुआ कि विवाह होने में तो अभी तीन दिन शेष हैं। क्यों न आज ही हम लोग देवेन्द्र के यहाँ चल दें और यह पत्र भी उसके सामने रख दें ? जीवनान्त की पावन घड़ियों में यदि तरुलता को स्वामी के दर्शन मिल जायँ तो उसका अन्त कितना शान्तिदायी होगा !

परिणाम यह हुआ कि उपेन्द्र सोचने लगा इस समय किसके यहाँ से कुछ रुपये उधार मिल सकते हैं ? उसे सुरेन्द्र का ध्यान आया। लेकिन तत्काल उसके स्वाभिमान को एक आघात लगा। 'जिसका पुत्र डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट हो, वह अपना दैन्य प्रकट करे ! नहीं नहीं। भले ही सुरेन्द्र कोर्ट इंस्पेक्टर हो गया है, लेकिन उसके बाल-बच्चे भी तो हैं। फिर ऐसी स्थिति में उससे रुपये माँगने का मैं अधिकारी भी तो नहीं हूँ।'

मंजु बोली—"तुम बेकार इतना परेशान होते हो। मेरे कानों की बालियों का एक जोड़ा अभी रक्खा है। आजकल सोने का भाव एक-सौ साठ के ऊपर है। इतने में अपने खर्चे के सिवाय हम अपनी नयी बहू के लिए एक छोटी-मोटी चीज भी ले सकेंगे। जाओ, देर मत करो।"

लेकिन रुपये और घर की सुरक्षा का प्रबन्ध करने में तीनों दिन बीत गये।

हम अपने विचार स्थिर नहीं रख पाते। तृष्णा हमें ठग लेती है। हम तात्कालिक स्वार्थ को ही देखते हैं, भावी सम्भावनाओं पर हमारा ध्यान हीं नहीं जाता। यहाँ तक कि हम भौतिक सुखों की नाना लिप्साओं के पीछे अपने आत्मीय सम्बन्धों की भी कभी-कभी अवहेलना कर बैठते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है किस लिए ?

उत्तर मिलता है अपने अस्तित्व की स्थापना और उसकी सुरक्षा के लिए। आस्थाओं का ध्यान कहाँ तक रखा जाय ? पर कुछ आस्थाएँ ही इस प्रकृति की होती हैं, जिनसे हमारा जीवन्त सम्बन्ध रहता है। वे कभी हमारा साथ नहीं छोड़ पातीं। फलतः आस्था और अस्तित्व का द्वन्द्वयुद्ध सदा चलता रहता है।

बड़ी आशा लेकर उपेन्द्र और मंजु घर से चले थे। मंजु सोचती थी—'मैं अब भैया (देवेन्द्र) के साथ रहूँगी। मुझे कमी किस बात की रहेगी ? जहाँ लक्ष्मी का वास रहता है, वहाँ कामना के सभी द्वार खुल जाते हैं। अपनी तबियत का खाना मिल जाय, स्वच्छ कपड़े पहनते रहने की सुव्यवस्था हो, अच्छा

हवादार मकान हो और सेवा के लिए सेवकों का भी अभाव न हो, तो फिर और चाहिये क्या ?'

उपेन्द्र ने भी मंजु के समझाने-बुझाने से अपनी मान्यताओं में लोच देकर जीवन के साथ समन्वय स्थापित कर लिया था।—'उस दिन की बात दूसरी है। उसने अपने साहबी रुआब में आकर कह तो डाला था कि आपको मेरा विवाह तय करने का क्या अधिकार था; पर अन्त में इतना तो मंजु से पूछा ही था कि डैडी कुछ कहते तो नहीं थे ?

'तात्पर्य यह कि देवेन्द्र के भीतर अभी मेरे लिए इतना स्थान तो बना ही हुआ है कि वह मेरी अप्रसन्नता की चिन्ता करता है।'

फिर ध्यान आया तरुलता का। 'विवाह तो उसने अपनी रुचि के अनुकूल किया और बहू बड़ी प्यारी, सुशीला और विदुषी आई। और यह तो बात ही अलग है कि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा। फिर अपनी-अपनी रुचियाँ हैं और अपनी-अपनी सीमाएँ। बहू से नहीं पटी, तो नहीं पटी। उसकी रुग्णावस्था की विवशताओं के साथ वह अपने जीवन को कहाँ तक घसीटता ! इसलिए यदि वह दूसरा विवाह कर ही रहा है, तो इसमें बुराई क्या है ? फिर इटैलियन कहावत है कि बड़ी बुराई में से बहुधा बड़ी भलाई निकलती है। हो सकता है, मिस पाल के साथ देवेन्द्र की यह सिविल मैरिज उसके जीवन के लिए परम मांगलिक और सिद्धिदायिनी बने। मेरी भी भगवान् से यही प्रार्थना है।'

तैयारी करते-कराते उपेन्द्र को इलाहाबाद से छः-बीस वाली शाम की गाड़ी मिली। डब्बे में भीड़ अधिक देखकर मंजु बोली—"बस, तीसरे दर्जे में यात्रा करने का अन्तिम अवसर समझ लो। अब उसे कहीं जाना होगा, तो पहले दर्जे में न सही, दूसरा दर्जा तो कहीं गया नहीं है।"

उपेन्द्र उत्साह के साथ बोला—"और तो सब ठीक है। जरा-सी यही दुविधा भीतर से बिजली-सी कौंध उठती है कि फ़ैजाबाद यह गाड़ी ग्यारह पच्चीस पर पहुँचती है। देवेन्द्र के बँगले तक पहुँचते-पहुँचते हो सकता है, बारह बज जायँ। गाड़ी भी पन्द्रह-बीस मिनट लेट है। उस समय तक देवेन्द्र कहीं सो न जाय !"

उसकी बात काटकर मंजु तम्बाकू की चुटकी मुँह में रखती हुई बोली—"अरे नहीं। यों भी वह क्लब से प्रायः देर से लौटता है। फिर आजकल तो

उसके जशन मनाने के दिन हैं। तुम चिन्ता मत करो। समझ लो, जो सुख जीवन में अब तक कभी सम्भव नहीं हुआ, भैया के पास पहुँचने पर वह सब एक साथ उपलब्ध हो जायगा। यह विवाह हो जाने पर भी ऐसा कुछ तो है नहीं कि बहू हम दोनों प्राणियों का ध्यान न रखे।"

उपेन्द्र कुछ शंका के साथ बोला—"देखो क्या होता है! अब तो चल ही रहे हैं।"

रात को बारह बजे दोनों प्राणी देवेन्द्र के बँगले के फाटक पर जो उतरे, तो क्या देखते हैं, वहाँ दोनों ओर दस-बारह कारें खड़ी हैं। रिक्शे के दाम चुकाकर, साथ का बेडिंग और ट्रंक उपेन्द्र ने रिक्शेवाले की सहायता से फुटपाथ पर रखवा लिया था। इसके बाद ज्यों ही उसने फाटक खोला कि साहब का एक चपरासी तुरन्त आ पहुँचा। एक बार सिर से पैर तक देखकर वह बोला—"यहाँ कहाँ घुसे आ रहे हो? जानते नहीं, यह किसका बंगला है?"

उपेन्द्र ने चपरासी पर तरस खाकर मुस्कराने की चेष्टा की, तो उसे खाँसी आ गयी।

इसी समय मंजु ने आगे बढ़कर उत्तर दिया—"तुम्हें पता नहीं, ये तुम्हारे साहब के पिता हैं।"

चपरासी को थोड़ा आश्चर्य तो हुआ, पर उसने उत्तर दिया—"अच्छा, मैं अभी साहब को इत्तला देता हूँ।"

उपेन्द्र की खाँसी किसी तरह शांत हुई। मंजु बोली—'जान पड़ता है, यहाँ कोई पार्टी हो रही है। देखो जरा इधर से, कितने लोग खा-पी रहे हैं, बोल रहे हैं और कोई-कोई तो हँस भी रहे हैं।"

बड़ी मुश्किल से देवेन्द्र वहाँ आ सका। बल्कि जैसे सम्भ्रान्त लोगों के बीच से उसे उठना पड़ा, इसका ध्यान करके उसे कुछ झुँझलाहट भी आ गई। आते ही बोला—"ओः डैडी! आपने तो गजब कर दिया! ऐसे वक्त आपको आना था, जब यहाँ शहर-भर का क्रीम इकट्ठा है और दावत चल रही है! आपसे इतना भी

न बना कि पहले से टेलीग्राम तो कर देते । खैर, अब मैं आपको...मगर यहाँ तो...अच्छा आप इस वक्त किसी धर्मशाले में ठहर जाइए । और खाने-वाने के लिए यह लीजिये ।"

कथन के साथ उसने उपेन्द्र के सम्मुख दस रुपये का एक नोट बढ़ाते हुए कह दिया—"माफ कीजियेगा डैडी, इस वक्त मैं बिज़ी बहुत हूँ । मगर कल आप चाहे तो मोर्निंग में ही आ जायें...। ए चपरासी ! आपको इस वक्त किसी धर्मशाले में ठहरा दो । साथ चले जाओ । साइकिल ले लो । और देखो, धर्मशाले वाले से कह देना, किसी तरह की तकलीफ न होने पाये ।"

देवेन्द्र फिर अपने समाज में जा मिला । चपरासी साइकिल लेकर बाहर आ गया था ।

इसी समय उपेन्द्र मंजु की ओर उन्मुख होकर बोला—"देखा ?"

उसे फिर खाँसी आ गयी । तब वह सड़क की ओर मुँह करके वहीं फुटपाथ पर बैठ गया ।

मंजु स्वामी के सिर का पृष्ठभाग सहला रही थी और उपेन्द्र की खाँसी से रक्त की पिचकारी छूट रही थी !

अंकुर जब निकलता है, तब बीज फूट जाता है, यही इस अनोखी सृष्टि का नियम है ।

बरकतअली ने साइकिल से आगे बढ़कर एक रिक्शा बुला लिया । मंजु ने सहारा देकर स्वामी को रिक्शे पर बैठा दिया । रिक्शे वाले ने उनका ट्रंक और बिस्तर आगे रख लिया ।

रिक्शा थोड़ा आगे बढ़ा । बरकतअली ने पूछा—"हुजूर की अब कैसी तबियत है ?"

उपेन्द्र सोच रहा था—'हमको आना ही नहीं चाहिये था । मंजु के कहने में आकर मैंने जान-बूझकर गलती की ।' फिर एक निःश्वास लेकर उसने सोचा—'मगर कर्मफल को हम क्या करेंगे ? यह दिन भी हमको देखना ही था ।' फिर याद आया—'मैं अपनी इच्छा से पिता से अलग हो गया, देवेन्द्र ने मेरी गरीबी के कारण अपनी इच्छा से अपने को अलग कर लिया । अगर मैं पद-मर्यादा में

भी इसका बाप होता तो आज के दिन वह इसी उपस्थिति में मुझको गौरव के साथ ले जाता, जहाँ लोग मुझको झुक-झुककर सलाम करते ! बहुतेरे तो मेरी पद-रज भाल से लगाकर अपने-आपको कृतार्थ समझते !'

इस समय बरकतअली ने जो उसकी तबियत का हाल पूछा, तो उपेन्द्र ने अन्यमनस्कता के साथ उत्तर दिया—"कोई खास बात नहीं है। कभी-कभी मुझे ऐसा हो जाता है।"

"मैं तो बहुत घबरा गया था हुजूर। बल्कि आपको क्या बताऊँ, मेरा दिल अब तक धड़क रहा है। समझ में नहीं आता आपके सामने अपने जजबात का इजहार कैसे करूँ ! वर्ना...।" वह थोड़ा रुका और उसने कहा—"हुजूर इस वक्त सीधे अस्पताल चले चलें, वहीं दवा ले लें और साथ में इन्जेक्शन, तो और अच्छा हो।"

मंजु बोली—"हाँ, अस्पताल ही चलना ठीक होगा।"

अस्पताल पहुँचने पर बरकतअली ने उपस्थिति इन्चार्ज डॉक्टर को जो बतलाया—"कलक्टर साहब के फादर और मदर दोनों आये हैं। फादर की तबियत कुछ खराब है। उनका मुनासिब इलाज होना चाहिये, हुजूर। मैं साहब को जरा टेलीफोन कर दूं।"

डॉक्टरसाहब बोले—"तुम फोन करो। मैं उन्हें देखता हूँ।"

डॉक्टरसाहब के पास मैट्रन बैठी हुई थी। झट से उठकर उपेन्द्र के पास जा पहुँची और बोली—"चलिये साहब अन्दर चलिये।" और मंजु की ओर उन्मुख होकर बोली—"आंटी उधर से आप भी जरा सहारा दे दें तो...बस-बस ठीक है। चलिये आगे सीढ़ी है। एक सीढ़ी और है। हाँ, आइये, उधर निकल आइये।"

तबतक डॉक्टरसाहब दरवाजे पर आ चुके थे।

देवेन्द्र बरकतअली से फोन पर कह रहा था—"हाँ, ठीक किया, अब फोन डॉक्टरसाहब को दे दो।"

दूसरी नर्स दौड़ी हुई आई और बोली—"डी० एम० साहब का फोन है। सिविल-सर्जन साहब तो वहीं हैं।"

डॉक्टरसाहब स्टेथसकोप लगाकर फेफड़ों की परीक्षा कर चुके थे। टार्च से उपेन्द्र के टान्सिलस देखने के बाद अब ब्लड-प्रेशर देख रहे थे। जब दोनों

पद्धतियों से उन्होंने निश्चय कर लिया कि ब्लड-प्रेशर नार्मल से बीस पाइन्ट कम है। तब उन्होंने तुरन्त एक नुस्खा लिखकर नर्स से कहा—"यह इन्जेक्शन अभी लगेगा।" और मंजु से बोले—"माताजी, आप घबरायें नहीं। जान पड़ता है कि किसी मेंटल-शाक के कारण घबरा गये हैं।"

इतना कहकर डॉक्टरसाहब उठे, एक बार फिर उन्होंने उपेन्द्र की ओर देखा और कह दिया—"मैं अभी आया।"

फोन का रिसीवर ज्यों ही उन्होंने कान पर लगाया, तो उन्होंने सुना डी० एम० साहब कर रहे थे—"हाँ, डाक्टर रस्तोगी, आपने फादर को देखा ?"

"जी हाँ। क्रानिक ब्रांकाइटिस और लो-ब्लड-प्रेशर है। मगर इन्ज़ेक्शन दिया जा चुका है। यों कोई खास बात नहीं है। कमजोरी ज्यादा है।"

देवेन्द्र ने उत्तर दिया—"कोई दवा या इन्जेक्शन हास्पिटल में न हो तो मँगवा लीजियेगा बाजार से, पैसे मैं दे दूँगा। आइ विल कम इन दि मॉर्निंग, थैंक यू डॉक्टर।"

यह कहने के साथ फोन बन्द कर दिया।

उपेन्द्र को इन्जेक्शन देकर एक कैप्सूल भी खिलाया जा चुका था। कुछ टैबलेट्स व कैप्सूल्स भी एक छोटी खाली शीशी में रखकर डॉक्टर रस्तोगी ने मंजु को दे दिये।"

इसके बाद वे उपेन्द्र से बोले—"अब आप मेरे ख्याल से चाहें तो यहीं रेस्ट लीजिये या बँगले पर चले जाइये। चिंता मत कीजिये। आप सोचते ज्यादा हैं। समझ लीजिये, दुनिया अब इसी तरह चल रही है। किसी बात को इतना फील मत किया कीजिये। आगे आप खुद समझदार हैं।"

उपेन्द्र बोला—"डॉक्टर साहब, आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। अब मैं जाऊँगा।" कहकर छड़ी के सहारे जो उठने की चेष्टा की, तो एक तरफ से मंजु और दूसरी से बरकतअली ने सहारा देकर उन्हें बाहर रिक्शे पर बैठाल दिया।

रिक्शा जब अस्पताल के फाटक से निकल रहा था, तभी उपेन्द्र ने रिक्शेवाले से कहा—"स्टेशन चलो।"

बरकतअली आश्चर्य के साथ बोला—"स्टेशन हुजूर।"

उपेन्द्र ने कोई जवाब नहीं दिया।

मंजु सोच रही थी—मैंने समझा था कि बुढ़ापे में ही सन्तान का पूरा सुख मिलता है। पर अब समझ में आ गया, हम अपनी तरुणावस्था के उन्माद-भरे जीवन-काल में भी अपना सर्वस्व उत्सर्ग करके बच्चों का जो पालन-पोषण करते हैं, उसका यह प्रतिफल कितना शोचनीय है।

बरकतअली सोच रहा था—"साहब से मिले बिना ये घर वापस लौट जा रहे हैं। ऐसी हालत में मुझको खबर तो कर ही देना चाहिए।" पर फिर तत्काल उसे ध्यान हो आया कि अब तो साहब सो गये होंगे।

रिक्शा चला जा रहा था।

उपेन्द्र अनुभव कर था कि हम एक ऐसे तूफान में पड़ गये हैं कि मार्ग के वृक्ष गिर रहे हैं। दूकानों के साइनबोर्ड उड़-उड़कर जहाँ-तहाँ गिरते जाते हैं। खिड़कियाँ और दरवाजे अपनी-अपनी आवाजों से सारे वातावरण को घनीभूत बना रहे हैं। वेगाकुल झंझावात साँय-साँय बोल रहा है। गर्द-गुबार, कागज के टुकड़े, सिगरेट के खाली पैकेट, शीशियों के डिब्बे, कूड़े-घरों में पड़े हुए मैले-कुचैले गंदगी से भरे लत्ते सामने उड़े जा रहे हैं। जहाँ भी पलकें खोलकर जरा देखते हैं वहाँ काले-काले अन्धकार के सिवा कुछ सूझ नहीं पड़ता है। पीछे कुछ नहीं है। आगे सारा भविष्य है। आने, दौड़ते, साथ देने और पुकारनेवाला कहीं कोई नहीं है। लेकिन नियति के नाना-विधानों में जकड़े, कसे, बँधे हुए, कराहते, चीखते रोते, घुटनों से गिरते-पड़ते, फिर झख मारकर उठते हुए हम चले जा रहे हैं और चले जा रहे हैं। किसलिए? इसलिए कि गति का नाम ही जीवन है।

चिंतन के आसमान से उतर फिर वह धरती पर आ गया—"अरे मंजु, तुम रो रही हो! पगली कहीं की! मैंने कहा न था कि कहीं कुछ नहीं है।"

रिक्शे पर चलते हुए भी उसने मंजु को कण्ठ से लगा लिया। सिर पर हाथ रखकर अपनी आर्द्रवाणी और सजल आँखों की ओर ध्यान न देकर उसने अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछते हुए कहा—"किसी प्रकार की दुर्बलता दिखलाने का समय नहीं है। साहस से काम लो।"

मंजु ने आँसू पोंछते हुए, सिसकियाँ भरे हुए कण्ठ से उत्तर दिया—"हम फिर उसी घर को लौट रहे हैं जहाँ से चले थे ?"

"नहीं मंजु, हम जा रहे हैं पहले अपनी उस माँ के चरणों पर सिर रखकर इन आँसुओं से उन्हें भिगोने और उनसे क्षमा माँगने के लिए। यही हमारा प्रायश्चित्त और यही हमारा अवशेष जीवन-सौख्य होगा ।"

मंजु कुछ नहीं बोली।

रिक्शा स्टेशन पर जा पहुँचा। उस समय रात्रि के तीन बजे थे और फैजाबाद से लखनऊ जो गाड़ी जाती थी, उसके जाने का समय तीन बजकर बीस मिनट था।

कुली सामान उतार रहा था। मंजु ने रिक्शेवाले से पूछा—"तुमको कितने पैसे दिये जायँ ?"

रिक्शेवाले ने कहा—"माताजी, काम तो मैंने दो रुपये का किया है, फिर आप जो दे दें।"

बरकतअली बोला—"कलक्टर साहब के यहाँ से लाये हो। कुछ इस बात का भी ख्याल करो।"

तभी उपेन्द्र बोला—"नहीं, दो रुपये दे दो।"

रिक्शेवाला मन-ही-मन खुश होकर हाथ जोड़कर लौट गया।

बरकतअली बोला—"हुजूर टिकट ?"

मंजु दस का एक नोट और दो का एक नोट, इस तरह बारह रुपये बरकत अली को देती हुई बोली—"दो टिकट कानपुर।"

उस समय भी बरकत अली के मन में आया—'साहब पूरे साहब हैं। नहीं तो अपने इतने ज़ईफ वाल्दैन को इस हालत में पाकर क्या बँगले में कहीं आराम से ठहरा नहीं सकते थे ? जब बुढ़ापा आ जाता है, तब तो यह हालत उन सभी लोगों की हो जाती है, जिनके बच्चे ऊँचे ओहदों पर पहुँचकर उनसे अलग रहने लगते हैं।...हमारे भी तो वालिद हैं। मगर हम गरीब लोग उनसे अलग रहने की बात ख्वाब में भी नहीं सोच सकते।'

क्यू में पचासों आदमी लगे हुए थे। लेकिन बरकतअली ने पुलिस कान्सटेबुल को रुपया देकर झट से टिकट मंगवा लिया।

फिर उसने कुली से सामान उठवाया और एक डब्बे में जगह बनाकर बिस्तर खोलकर बिछा दिया। सहारा देकर बैठाने के बाद जब गाड़ी सीटी दे रही थी, तब बरकत अली बोला—"हुजूर आपको इस तरह जाते हुए देखकर बड़ा अफसोस हो रहा है। और हुजूर अगर कोई गलती हो गई हो तो माफी चाहता हूँ।"

उपेन्द्र ने दस रुपये का वही नोट, जिसे देवेन्द्र ने दिया था, अपनी जेब से निकालकर आगे बढ़ाते हुए कहा—"बच्चों की मिठाई के लिए।"

गाड़ी खिसकने लगी। बरकतअली ने नोट लेकर जेब में रखते हुए कह दिया—"इसकी क्या जरूरत थी हुजूर, आप ही का दिया खाते हैं।"

गाड़ी कुछ और आगे बढ़ी। बरकतअली ने झुककर सलाम किया। अब उसकी आँखों में आँसू भर आये थे।

बरकतअली पीछे छूट गया। उपेन्द्र तकिये के सहारे आधा लेट गया।

मंजु सोच रही थी—'फिर वही थर्ड क्लास!'

अब गाड़ी प्लेटफार्म से आगे निकल गई थी। उपेन्द्र ने एकाएक मंजु का हाथ पकड़ लिया। एक क्षण रुका, फिर उसकी आँखों में आँखें डालकर बोला—"देखा?"

प्रातःकाल के आठ बजे थे। देवेन्द्र नाश्ता करने के लिए डायनिंग रूम में पहुँच चुका था। इसी समय नहा-धोकर नये परिधान में उनकी नव-विवाहिता पत्नी कुर्सी ग्रहण करते-करते बोली—"माफ करना डार्लिंग, मैं जरा लेट हो गई।"

वह सफेद स्लीवलेस ब्लाउज और हरी किनारी की सफेद किन्तु रेशमी साड़ी पहने हुए थी। माँग में सिन्दूर की लकीर थी, भाल पर शंख के आकार की बिन्दी बड़ी शोभन लग रही थी।

देवेन्द्र उसको एकटक देखता रह गया। एकाएक उसको तरुलता का स्मरण हो आया।

स्वामी को अपनी ओर ध्यान से देखते हुए पाकर रश्मि कुछ संकुचित हो उठी। अधरों पर मन्द हास झलकाती हुई बोली—"इस तरह क्या देख रहे हो?"

"मैं तुम्हारे इस ड्रेस को देख रहा था डॉक्टर।"

उसने उत्तर दिया—"अब मैं डॉक्टर नहीं, तुम्हारी पत्नी रश्मि हूँ और

भारतीय सभ्यता से मुझे प्यार है ।"

इसी समय बरकतअली ने अन्दर आकर सलाम किया और कहा—"हुजूर, अस्पताल से इन्जेक्शन और दवा लेकर बड़े साहब कानपुर चले गये ।।"

"कानपुर चले गये ! तुमने मुझे खबर क्यों नहीं दी ?" देवेन्द्र ने आश्चर्य और कुछ गुस्से से कहा ।

बरकतअली ने जवाब दिया—"खबर देने का मौका कहाँ था हुजूर ! मैंने बँगले चलने के लिए बहुत जोर दिया लेकिन वे नहीं माने ।"

इस समय रश्मि ने आश्चर्य के साथ पूछा—"कौन बड़े साहब ? यह किसकी बात हो रही है ?"

देवेन्द्र ने अपने को सम्हालते हुए उत्तर दिया—"रात में जब पार्टी हो रही थी और हम लोग खाने-पीने में बुरी तरह बिज़ी थे, अचानक उसी वक्त फादर मदर आ पहुँचे । मैं बड़े धर्म-संकट में पड़ गया । जब और कुछ न सूझ पड़ा, तो सबेरे तक के लिए मैंने उन्हें धर्मशाले में ठहरने का इन्तजाम करा दिया ।"

"और यह दवाई का क्या सिलसिला है ?" रश्मि ने कुछ गम्भीर होकर पूछा ।

बँगले का नौकर जो अब जगमोहन से जग्गू हो गया था, टेबुल पर आमिषाहार सम्बन्धी प्लेट्स लगा रहा था । काफी-पॉट, टोस्ट और मक्खन वह पहले ही लाकर रख चुका था । बरकतअली चुपचाप मौका पाकर बाहर निकल गया ।

देवेन्द्र ने सकपकाते हुए उत्तर दिया—"आजकल वो कुछ बीमार से रहते हैं । इसलिए सीधे धर्मशाले न जाकर हास्पिटल चले गये । मैंने डॉक्टर रस्तोगी से फोन पर सब कुछ कह दिया और यहाँ सिविलसर्जन से भी जिक्र कर दिया था ।"

रश्मि ने प्लेट सामने से हटाते हुए कुछ आवेश के साथ कहा—"और वे कानपुर लौट गये ! फादर-मदर दोनों आये, हमारे विवाह के दिन आये, पार्टी के ऐन वक्त पर आये और श्रीमान् ने मुझको बिना बतलाये उनको धर्मशाले के हवाले कर दिया !"

देवेन्द्र कुछ नहीं बोला । उसने पाइप निकालकर सुलगा लिया ।

रश्मि बोल रही थी—"आपको मालूम था कि वे बीमार रहते हैं । फिर

आपको यह भी मालूम हुआ कि वे और ज्यादा बीमार पड़ गये हैं और आपने यहीं बैठे-बैठे फोन से उनका इलाज कर दिया ! आप खुद उनको हास्पिटल से गाड़ी में बैठाकर बँगले नहीं ला सके !"

पाइप सुलगाने में साहब के ऊपर-नीचे वाले होंठ उठ-उठकर गिर रहे थे। पाइप से धुआँ निकलकर उड़ रहा था।

और रश्मि कहती जा रही थी—"आपके फादर-मदर आये, उनका आशीर्वाद लेने का आपने मुझे मौका ही नहीं दिया ! मेरे इस अधिकार की हत्या करने का आपको क्या अधिकार था ? न जाने कितनी आशा लेकर, जीवन-भर के सारे अरमानों को साकार देखने के लिए वे यहाँ आये और उनकी सेवा करने का, उनको प्रसन्न देखकर जीवन का जो परम आत्मिक सुख मिलता है, और जिसका अवसर विवाह के दिन पहली बार आता है, आपने उससे भी मुझे वंचित कर दिया ! बच्चों के आगे अपना आंतरिक स्नेह प्रकट करने का उनका जो अधिकार था, उसका भी आपने अपमान किया ! मैं पूछती हूँ किसलिए ? झूठी शान-शौकत और मिथ्या आडम्बर के लिए ! जनता के अधिकारों की रक्षा के इतने बड़े अधिकारी होते हुए श्रीमान् अपने पिता के अधिकारों की रक्षा न कर सके !"

रश्मि अभी शायद कुछ और कहती, किन्तु बात-की-बात में उसका कंठ भर आया और आँखों में आँसू आ गये। सिसकियाँ लेती हुई वह थोड़ी रुकी और बोली—"अब भी हम उनको वापस ला सकते हैं।"

देवेन्द्र ने एक निःश्वास लेते हुए धीरे-से कह दिया—"गलती तो मुझसे हो ही गई। लेकिन जरा सोचो तो सही रश्मि, इतनी उच्चकोटि की गैदरिंग में, जहाँ पर नगर की क्रीम उपस्थित थी, मैं उनको कहाँ ले आता ?"

"आपके मन में फादर और मदर के तात्कालिक ड्रेस का तो इतना ख्याल है और उसके अन्दर जो आत्मा है उसका कोई ख्याल नहीं है ! आप पार्टी में सीना तानकर यह नहीं कह सकते थे कि ये मेरे माता-पिता हैं।"

"मुझे गलत मत समझो रश्मि। आई एम रियली वेरी सॉरी !"

फिर भी रश्मि ने इतना तो कह दिया—"मुझे आपसे ऐसी आशा नहीं थी।"

द्रवित कण्ठ से निकली हुई यह वाणी सुनकर देवेन्द्र मर्माहत हो उठा और बोला—"सच्ची बात तो यह है रश्मि कि मैंने तुमको भी गलत समझ लिया था। मैं नहीं जानता था कि विचारों के अनुकूल तुम्हारा हृदय भी इतना विशाल है!"

रोते-रोते रश्मि बोली—"मुझे अब तुमसे डर लगने लगा है। मैं जब बूढ़ी हो जाऊँगी और तुम्हारी बहुतेरी लिप्साओं का समाधान करने से मुझे विरक्ति हो जायगी, तब ऐसा भी हो सकता है कि तुम इसी तरह एक दिन मेरा भी तिरस्कार कर बैठो। और अब तो मैं विश्वास के साथ कह सकती हूँ कि तरुलता का तिरस्कार भी तुमने इसी आधार पर किया होगा!"

इसके पहले कि देवेन्द्र कुछ उत्तर देता, बरकतअली ने उसके सामने एक तार का लिफाफा रख दिया। देवेन्द्र ने लिफाफा खोला। वह अभी पढ़ ही रहा था कि उसकी आँखों में आँसू भर आये।

उसने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—"नहीं-नहीं! हम आज ही कानपुर जायेंगे और अम्मा तथा बाबूजी को मनाकर यहीं ले आयेंगे।"

तार उसने रश्मि के हाथ में दे दिया, जिसमें तरुलता के निधन का समाचार था।

देवेन्द्र की आँखों से आँसू टपक रहे थे। रश्मि तत्काल उठी, स्वामी के पास खड़ी होकर अपने आँचल से उनके आँसू पोंछते हुए बोली—"पागल!"

इस अवसर पर भगवान् बुद्ध का एक वचन याद आ रहा है—'सात सागरों के जल की अपेक्षा मानव के नेत्रों से कहीं अधिक आँसू बह चुके हैं!'